लेखक के दो शब्द

लगभग चार पांच वर्ष हुए मैंने पूर्वीय राष्ट्रों के राष्ट्रीय जागरण से सम्बन्धित साहित्य पढ़ना आरम्भ किया था। उसी समय मेरे हृदय में यह विचार उत्पन्न हुआ कि हिन्दी में पूर्व की राष्ट्रीय जागृति पर एक पुस्तक लिखी जानी चाहिए। भारतवर्ष जिस समय अपनी दासता की शृङ्खलाओं को नष्ट करने के लिए प्रयत्न कर रहा हो, उस समय राष्ट्र-भाषा हिन्दी में, पूर्व के अन्य राष्ट्रों ने साम्राज्यवादी राष्ट्रों से अपना छुटकारा किस प्रकार किया, इसका विवरण उपस्थित करना, हमारे देश के राष्ट्रीय जागरण में सहायक हो सकता है। इसी उद्देश्य को लेकर मैंने पुस्तक लिखनी आरम्भ कर दी।

पहले प्रत्येक देश के राष्ट्रीय जागरण के इतिहास को एक स्वतंत्र पुस्तक मे लिखने का विचार हुआ, किंतु हिन्दी के प्रकाशकों और पाठकों का ध्यान आते ही मुझे अपना विचार बदलना पड़ा। अन्त में यही निश्चय किया कि प्रमुख पूर्वीय राष्ट्रों के जागरण का इतिहास संक्षेप में लिख दिया जावे। परंतु फिर भी पुस्तक बड़ी हो गई। अतएव मैंने इस पुस्तक में केवल निकट पूर्व अर्थात् मिस्र, टर्की, अरब, फ़ारस, तथा अफ़गानिस्तान की राष्ट्रीय जागृति का इतिहास दिया है। चीन, जापान, स्याम, फिलीपाइन्स, तथा अन्य सुदूर पूर्वीय देशों की राष्ट्रीय जागृति के इतिहास को एक पृथक् पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने का विचार है। भारतवर्ष

की राष्ट्रीय जागृति के इतिहास को संक्षेप में लिखने का कोई अर्थ नहीं होता, उसके लिए तो एक स्वतंत्र पुस्तक ही लिखी जानी चाहिए। इसी कारण मैंने उसे जान बूझकर छोड़ दिया है। यदि पाठकों ने इन पुस्तकों को अपनाया तो भारतवर्ष पर भी एक पुस्तक लेकर उपस्थित हूँगा। जापान को छोड़कर अन्य पूर्वीय राष्ट्रों की एक ही समस्या है, साम्राज्यवाद से अपने को मुक्त करना। अतएव आरम्भ में ही "पूर्व में साम्राज्यवाद" परिच्छेद लिखा गया है।

पुस्तक तो लिख ली, किन्तु प्रकाशन की समस्या सुलझती नहीं दिखाई देती थी। हिन्दी में प्रकाशन की दशा इस समय कुछ ऐसी है कि लेखक को विवश होकर प्रकाशक भी बनना पड़ता है, जो कि वांच्छनीय नहीं है। मेरा तो यह अनुभव हुआ है कि हिन्दी में स्वयं अपनी रुचि के अनुसार पुस्तक लिखने का दुस्साहस कभी न करना चाहिए। अस्तु, पुस्तक किसी प्रकार प्रकाशित हो रही है, यही अलम् है।

इस पुस्तक के लिखने में मैंने अंग्रेज़ी की बहुत-सी पुस्तकों से सहायता ली है। प्रथम परिच्छेद के लिखने में मैंने "एशिया की क्रान्ति" से यथेष्ट सहायता ली है, और कहीं-कहीं तो उस की भाषा का भी उपयोग किया है। इसके अतिरिक्त 'एशिया' पत्रिका का भी मैंने बहुत उपयोग किया है। जिन लेखकों की कृतियों से मैंने सहायता ली है, उनका मैं कृतज्ञ हूं। यदि हिन्दी संसार ने इस पुस्तक का स्वागत किया तो मैं शीघ्र ही दूसरी पुस्तक लेकर उपस्थित हूंगा।

शङ्करसहाय सकसेना

* विषय सूची *

पूर्व की राष्ट्रीय जागृति

प्रथम परिच्छेद

पूर्व में साम्राज्यवाद

आज दिन पूर्वीय देशों में अपूर्व जागृति हो रही है और वे अपने बंधनों को नष्ट भ्रष्ट कर डालने के लिए छटपटा रहे हैं। इन देशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों की जो टक्कर पश्चिमीय साम्राज्य-वाद से होरही है, उसको भली प्रकार समझने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि हम साम्राज्यवाद के इतिहास को जान लें।

वास्तव में यदि देखा जावे तो इस साम्राज्यवाद का रूप शुद्ध आर्थिक है। प्राचीन समय में महत्वाकांक्षी शक्तिवान नरेश अपने बल का प्रदर्शन करने तथा दिग्विजयी की उपाधि धारण करने के लिए अपनी सेनाओं को लेकर विजय-यात्रा के लिए निकलते थे। किन्तु कोई भी सम्राट विजित देशों का आर्थिक शोषण करने में सफल न हो सका। आजकल साम्राज्य-वाद का आधार शुद्ध आर्थिक शोषण है। पराधीन राष्ट्रों का शोषण करना और उस सम्पत्ति के द्वारा अपने रहन सहन को खर्चीला बनाकर ऐश्वर्य का जीवन व्यतीत करना ही साम्राज्य-वादियों का प्रधान लक्ष्य है। यही कारण है कि प्रत्यक्ष रूप से आधुनिक साम्राज्यवादी राष्ट्र अधिक दयावान, सहनशील तथा सुसंस्कृत दृष्टिगोचर होते हैं; परन्तु परोक्ष रूप से वे विजित और पराधीन राष्ट्रों का रुधिर, जोंक की भांति चूसते रहते हैं। आर्थिक साम्राज्यवाद के इस शोषण के कारण पूर्वीय देशों के निवासियों का जैसा सर्वांगीण (नैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा शारीरिक) पतन हुआ है, वैसा पहले कभी नहीं हुआ। इतिहास इसका साक्षी है।

इस आर्थिक साम्राज्यवाद का प्रादुर्भाव फ्रांस की राज्य-क्रान्ति तथा औद्योगिक क्रान्ति से हुआ। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति का योरोप पर यह प्रभाव पड़ा कि राजकीय मामलों में राजाओं के हाथ से अधिकार निकल कर मध्यम वर्ग के धनी लोगों के हाथ में चला जाने लगा। योरोप में मध्यम वर्ग प्रभावशाली हो

उठा। मध्यम वर्ग के शक्तिवान हो जाने से स्वभावतः ही योरोपीय राष्ट्रों की राजनीति का आधार आर्थिक लाभ बन गया, क्योंकि व्यवसायिक उन्नति होने से ही मध्यम वर्ग को लाभ हो सकता था। उसी समय औद्योगिक क्रान्ति हुई। आर्थिक साम्राज्यवाद को जन्म देने में औद्योगिक क्रान्ति का बहुत बड़ा हाथ रहा है। यदि यह कहा जाय कि आर्थिक साम्राज्यवाद औद्योगिक क्रान्ति का बच्चा है तो अतिशयोक्ति न होगी। औद्योगिक क्रान्ति होने से योरोपीय देशों की आश्चर्यजनक व्यवसायिक उन्नति हुई। व्यवसायों की उन्नति से मध्यम वर्ग को लाभ होने लगा और वे धनी होने लगे। जैसे जैसे योरोपीय देशों के व्यवसाय बढ़ने लगे, उन्हें अपने तैयार माल को बेचने तथा कच्चा माल और खाद्य पदार्थ लाने के लिए उपनिवेशों की आवश्यकता पड़ने लगी। रेल, तार जहाज तथा अस्त्र शस्त्रों के आविष्कार हो जाने से उपनिवेशों पर अधिकार करने तथा अधिक दिनों तक उन पर आधिपत्य जमाये रखने की सुविधा हो गई। औद्योगिक क्रान्ति के फल-स्वरूप ब्रिटेन तथा अन्य योरोपीय देशों में बड़े बड़े कारखानों और मिलों की स्थापना हो गई, और उनके मालिकों को अत्याधिक लाभ होने लगा। क्रमशः पूंजीपतियों का एक वर्ग उत्पन्न हो गया। कुछ थोड़े से व्यक्तियों के पास अपार धन-राशि इकट्ठी होने लगी। आरम्भ में तो यह पूंजीपति लाभ से प्राप्त पूंजी को अपने देश में ही लगाने लगे, किन्तु जब देश में औद्योगिक उन्नति चरम सीमा

पर पहुंच गई, और सब सम्भावित धंधे उन्नत हो गये तब इन औद्योगिक देशों के पूंजीपतियों ने अपनी पूंजी को एशिया, अफ्रीका और दक्षिण अमेरिका में लगाना आरम्भ किया। इन महाद्वीपों में उस समय माध्यमिक युग का आर्थिक संगठन चल रहा था। अतएव वहां रेल, सड़क बनाकर खनिज पदार्थों को, पृथ्वी के गर्भ से निकाल कर, बेचने में अकथनीय लाभ की आशा थी। अस्तु, योरोपीय देशों के पूंजीपति इन देशों में खनिज पदार्थों को निकालने के लिए सुविधाएं प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगे। अपने देशों की औद्योगिक उन्नति को स्थायी बनाने के लिए उन्हें यह भी आवश्यक प्रतीत होने लगा कि प्रकृति के धनी पूर्वीय देशों पर प्रभुत्व जमाया जाय जिससे तैयार माल के लिए वहां स्थायी रूप से बाजार सुरक्षित कर लिया जाय, और उनकी प्राकृतिक देन का लाभ उठाया जा सके।

सर्व प्रथम इङ्गलैंड में, औद्योगिक क्रान्ति हुई और इसी कारण व्यवसायिक उन्नति की दौड़ में इङ्गलैंड अन्य सब योरोपीय देशों से आगे निकल गया। व्यवसायिक दृष्टि से सब देशों से उन्नत होने के कारण इङ्गलैंड को ही सब से पहले उपनिवेशों की आवश्यकता हुई। यह ध्यान में रखने की बात है कि यद्यपि इङ्गलैंड का बहुत से देशों पर उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में ही अधिकार हो गया था किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में वह अधिक उपनिवेशों को प्राप्त करने के लिए और भी सचेष्ट

तथा सतर्क हो गया। बात यह थी कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में अन्य योरोपीय राष्ट्र भी अपने अपने देशों में औद्योगिक उन्नति के फल-स्वरूप उपनिवेशों की प्राप्ति के लिए सिर-तोड़ प्रयत्न करने लगे थे। उन्हें भी उपनिवेशों की आवश्यकता का अनुभव होने लगा था। १८७५ से १६०० तक योरोपीय देशों में उपनिवेशों पर अधिकार जमाने के लिए भीषण प्रतिस्पर्धा उठ खड़ी हुई। प्रत्येक राष्ट्र जल्दी करना चाहता था, क्योंकि वह यह जानता था कि जो राष्ट्र इस समय उपनिवेश न पा सका उसको भविष्य में भी कोई आशा न करनी चाहिए, और बिना उपनिवेशों को प्राप्त किये कोई भी राष्ट्र मालामाल नहीं हो सकता। उन्नीसवीं शताब्दी के समाप्त होते होते योरोप के राष्ट्रों तथा संयुक्त-राज्य-अमेरिका ने चीन को छोड़कर और सब देशों पर अपना अधिकार कर लिया। उस समय योरोपीय राष्ट्र साम्राज्यवादी नीति के कारण पागल बन गये थे। ब्रिटेन ने सैंतीस लाख वर्ग मील, फ्रांस ने पांच लाख, जर्मनी ने अफ्रीका में दस लाख वर्ग मील भूमि पर अधिकार जमा लिया। इटली का राष्ट्रीय एकीकरण देर से हुआ किन्तु फिर भी वह साम्राज्य-विस्तार के प्रयत्न में लग गया। रूस, जापान, संयुक्त-राज्य अमेरिका, पुर्तगाल, स्पेन ने भी नये नये भूभागों पर अधिकार जमाना आरम्भ कर दिया। यहां तक कि छोटे से हालैंड और बेल्जियम ने भी अपने से क्रमशः साठ गुने तथा अस्सी गुने भू-खण्ड पर अधिपत्य जमा लिया। उस समय ऐसा प्रतीत होता

था कि मानों समस्त संसार को बांट लेने का अधिकार योरोपीय राष्ट्रों को ही प्राप्त हो गया है। रहे-सहे देशों का बटवारा महायुद्ध के उपरान्त हो गया।

आरम्भ में बटवारा करते समय जहां तक हो सका समझौते से काम लिया गया। यदि इङ्गलैंड मिस्र को हड़प जाना चाहता था तो फ्रांस चुप रहा, और उसके प्रतिफल में इङ्गलैंड ने फ्रांस का, मरक्को पर अधिकार हो जाने दिया। इसी प्रकार एशिया में इङ्गलैंड ने रूस से समझौता कर लिया। किन्तु जब बांटने के लिए अधिक भूमि नहीं रह गई तो यह साम्राज्यवादी राष्ट्र आपस में ही भिड़ गये। १९१४ का महायुद्ध इसी कारण हुआ, और जो आज संसार पर भयंकर विश्व-व्यापी युद्ध की आशंका के बादल मंडरा रहे हैं, यह केवल उपनिवेशों के लिए।

बात यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में तथा बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में पश्चिमीय राष्ट्रों में गला-काट व्यवसायिक प्रतिस्पर्धा उत्पन्न हो गई थी। प्रत्येक राष्ट्र अपने तैयार माल को विदेशों में बेचने तथा कच्चा माल कम से कम मूल्य पर प्राप्त करने के लिए उत्सुक था। कच्चा माल प्राप्त करने और तैयार माल के लिए बाजार सुरक्षित रखने के लिए उपनिवेशों की आवश्यकता थी। इस समय प्रत्येक औद्योगिक राष्ट्र अपने तैयार माल की खपत के लिए, कच्चे माल को सस्ते दामों पर प्राप्त करना चाहता था। औद्योगिक राष्ट्रों का यह विश्वास था कि

जितने ही अधिक उपनिवेश होंगे, उतनी ही औद्योगिक उन्नति सम्भव हो सकेगी। जितनी ही व्यवसायिक उन्नति होगी उतना ही अधिक लाभ होगा, और औद्योगिक राष्ट्र को धन प्राप्त होगा। यद्यपि उद्योग धंधों की उन्नति से विशेषतः पूँजीपतियों को ही अधिक लाभ था, किन्तु श्रमजीवी वर्ग की भी अवस्था कुछ हद तक अच्छी हो गई।

क्रमशः आगे चलकर जब व्यवसायिक स्पर्धा और अधिक बढ़ी तो साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने अपने अधिकृत उपनिवेशों में अपने माल पर आयात-कर या तो छुड़वा लिया अथवा बहुत कम करवा लिया। इम्पीरियल-प्रिफ़रैंस (साम्राज्यांतर्गत रियायत) की जो नई नीति प्रत्येक साम्राज्यवादी राष्ट्र अपने अधिकृत देशों में चला रहा है, उसका मुख्य उद्देश्य केवल उन देशों में अपने माल के लिए बाज़ार सुरक्षित करना है। इस दृष्टि से उपनिवेशों तथा अधीन राष्ट्रों का किसी भी साम्राज्यवादी राष्ट्र के लिए कितना उपयोग हो सकता है, यह समझ में आ सकता है।

जैसे जैसे बड़ी मात्रा में उत्पत्ति होने लगी, भीमकाय मिल और कारख़ाने स्थापित होने लगे और पूंजीपति वर्ग प्रभावशाली होता गया, वैसे ही वैसे इन पूंजोपतियों का प्रभाव अपने देश की सरकार पर बढ़ता गया। बीसवीं शताब्दी में औद्योगिक संगठन का एक नवीन स्वरूप प्रगट हुआ। जिन राष्ट्रों की औद्योगिक उन्नति हो चुकी थी वहां एकाधिकार और ट्रस्ट बनने लगे,

और उद्योग धंधों का स्वामित्व सर्व साधारण के हाथ से निकल कर कतिपय थोड़े से पूंजीपतियों के हाथ में जाने लगा। यह स्वाभाविक भी था। बड़ी मात्रा में उत्पत्ति करने की पद्धति स्वीकार करने का यह अवश्यम्भावी परिणाम था। जैसे एक कपड़े का मिल प्रतिस्पर्धा में जुलाहों को नष्ट कर सकता है ऐसे ही ट्रस्ट मिलों को नहीं चलने देगा। प्रत्येक औद्योगिक देश में गला-काट प्रतिस्पर्धा आरम्भ हुई। आर्थिक दृष्टि से शक्तिहीन मिलें दिवालिया हो गईं। जब थोड़ी सी समान शक्ति वाले कारखाने अथवा मिलें मैदान में रह गईं तो उन्होंने प्रतिस्पर्धा न करके एक गुट बनाकर ट्रस्ट बनालिया। इसका फल यह हुआ कि किसी देश में एक वस्तु को केवल एक ही ट्रस्ट उत्पन्न करता है। यह ट्रस्ट काल्पनिक संगठन नहीं हैं वरन् प्रत्येक धंधे में ट्रस्ट बनते जा रहे हैं। भविष्य में प्रयत्न यह हो रहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय ट्रस्ट बनाये जावें। इसका परिणाम यह होगा कि संसार के मुख्य मुख्य व्यवसायों पर थोड़े से पूँजीपतियों का अधिपत्य हो जावेगा।

इन ट्रस्टों से जो लाभ होता है, वह थोड़े से पूंजीपतियों की तिजोरियों में जाता है। संयुक्त-राज्य-अमेरिका के स्टैंडर्ड-आयल-ट्रस्ट का वार्षिक लाभ डेढ़ अरब रुपये के लगभग है और वह सब केवल नौ पूंजीपतियों को मिलता है। इस वार्षिक लाभ का क्या उपयोग हो? क्रमशः यह पूंजीपति बैंकों तथा रेलवे लाइनों में इस पूंजी को लगाते हैं और आज स्टैंडर्ड-आयल-ट्रस्ट

के मालिकों के बास से अधिक बैंक तथा पांच प्रमुख रेलें संयुक्त-राज्य-अमेरिका में चल रही हैं। वहां केवल तेल का यही एक ट्रस्ट हो, यह बात नहीं है। तम्बाकू ट्रस्ट, आयरन (लोहे) ट्रस्ट, तथा और भी कई ट्रस्टों ने अपने अपने व्यवसायों पर एकाधिपत्य स्थापित कर लिया है। इसी प्रकार किसी न किसी रूप में इंगलैंड, जर्मनी तथा अन्य औद्योगिक देशों में भी ट्रस्ट स्थापित हो गये हैं, जिन्होंने अपने अपने व्यवसायों पर एकाधिपत्य स्थापित कर लिया है । इन ट्रस्ट-मालिकों के पास कितनी अनन्त धन-राशि इकट्ठी हो जावेगी इसका सहज में ही अनुमान हो सकता है । इनका राजनैतिक जीवन पर कितना प्रभाव हो सकता है, यह प्रत्येक विचारवान व्यक्ति स्वयं समझ सकता है। आजकल बहुत ख़र्चीले चुनावों के कारण प्रत्येक राजनैतिक दल को धन की बहुत आवश्यकता रहती है और यह पूंजी-सम्राट, जो कि प्रत्येक देश में संख्या में बहुत कम होते हैं, इन राजनैतिक दलों को धन की सहायता देकर मोल ले लेते हैं और फिर अपने लाभ के लिए शासन-यन्त्र को इच्छानुसार चलाते हैं । जब अपने देश में धन्धों की पूर्ण उन्नति हो जाती है और वहां अधिक पूंजी की आवश्यकता नहीं रहती, तब इन पूंजीपतियों के वार्षिक लाभ की अनन्त धन-राशि का क्या उपयोग हो ? स्वभावतः वे लोग अपनी पूंजी विदेशों में लगाना चाहते हैं, और इसलिये वे अपनी सरकार को विवश करते हैं कि वह उन पिछड़े हुए देशों पर अपना

अधिकार जमावे। सीरिया, इराक़, फ़ारस और अफ़गानिस्तान में योरोपीय महायुद्ध के पूर्व और पश्चात् जो कुछ साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने चालें चलीं और उन पर अपना आधिपत्य जमाने का प्रयत्न किया, वह केवल इस कारण कि वहां पृथ्वी के अन्दर तेल बहता था। उक्त साम्राज्यवादी राष्ट्रों के पूंजीपति उस तेल को निकालने का एकाधिकार चाहते थे, इस कारण उनकी सरकारों को उसी प्रकार अपनी नीति बनानी पड़ी। केवल यहीं तक बात नहीं रहती कि यह व्यवसायी सम्राट अपने देश की सरकार की परराष्ट्र नीति पर असीम प्रभाव डालते हैं, वरन् वे आवश्यकता पड़ने पर पिछड़े हुए देशों में विद्रोह तक करा देते है, जिससे कि उनका लाभ हो। फ़ारस और मैक्सिको में इसी प्रकार की घटनाएं बहुत बार हो चुकी हैं। मान लीजिए कि किसी पिछड़े हुए राष्ट्र में कुछ बहुमूल्य खनिज पदार्थ हैं और वहां की तत्कालीन सरकार विदेशी पूंजीपतियों को उनके निकालने का एकाधिकार नहीं देना चाहती तो इन पूंजीपतियों के ऐजण्ट धन के द्वारा उस सरकार के विरोधियों को सहायता पहुंचाकर उस देश में राजनैतिक अशान्ति उत्पन्न कराने का प्रयत्न करते हैं। कभी कभी यह पूंजी-सम्राट पिछड़े हुए राष्ट्रों के किसी एक दल से गठ-बन्धन कर लेते हैं और उसको आर्थिक सहायता देते हें। उसके प्रतिफल-स्वरूप जब कभी वह दल शक्तिवान होकर मंत्रिमंडल बनाता है तो उससे व्यापारिक तथा व्यवसायिक सुविधाएं प्राप्त कर लेते हैं।

इसमें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है कि जहां औद्योगिक उन्नति चरम सीमा पर पहुँच गई है और बड़े-बड़े पूंजीपति उत्पन्न हो गये हैं, वहां की प्रजातंत्री सरकार की बागडोर बहुत कुछ इन पूंजीपतियों के हाथ में ही रहती है। दक्षिण अफ्रीका में किम्बरले तथा अन्य हीरे-जवाहरात की खानों पर डी-बियर्स कम्पनी का एकाधिपत्य है। इन खानों का लाभ कुछ इने गिने पूंजीपतियों को मिलता है। फलतः वे ही पूंजीपति 'यूनियन' पर शासन करते हैं। अपने नौकरों को पार्लियामेंट के लिये खड़ा करके तथा खूब धन व्यय करकेवे पर्लियामेंट में अपना आज्ञाकारी एवं शक्तिवान दल बना लेते हैं, और फिर यूनियन सरकार भी उनके हाथ की कठपुतली मात्र रह जाती है।

अपने देश की सरकारों और राजनीतिज्ञों पर ही इन पूंजी-पतियों का प्रभाव हो, केवल यही बात नहीं है। यह पूंजीपति समाचार पत्रों पर भी अपना प्रभाव जमा लेते हैं। अधिकांश प्रमुख समाचार पत्रों के स्वामी बड़े बड़े व्यवसायी होते हैं और शेष को आर्थिक सहायता देकर यह पूंजीपति अपने हाथ में कर लेते हैं। यह तो किसी भी विचारवान व्यक्ति से छिपा नहीं है कि आजकल समाचार पत्रों के हाथ में कितनी शक्ति है। राष्ट्र की विचार-धारा को बनाने के यह पत्र ही मुख्य साधन हैं। यदि व्यसायियों को किसी युद्ध से लाभ होने की सम्भावना होती है तो उनके मोल लिए हुए पत्र युद्ध की आवश्यकता का राग

अलापने लगते हैं। साधारण जनता समझती है कि राष्ट्र पर महान विपत्ति आई हुई है, अतएव युद्ध आवश्यक है । पूंजी-पतियों के लाभ के लिए उस राष्ट्र के लाखों वीर पुरुषों को युद्ध की भेंट चढ़ा दिया जाता है।

यह पूंजीपति साम्राज्यवाद के कट्टर समर्थक होते हैं, क्यों कि उपनिवेशों में पूंजी लगाने से बहुत लाभ होता है । वहां रेल, तार तथा खनिज पदार्थों को निकाल कर वे लोग मनमाना लाभ उठाते हैं। आज जितने भी युद्ध होते है, वह केवल इस कारण कि उनसे व्यवसायियों के स्वार्थों की या तो रक्षा होती है, अथवा वृद्धि होती है । इंगलैंड के व्यवसायियों की पूंजी मिस्र में लगी हुई थी, इस कारण ब्रिटेन ने वहां हस्तक्षेप किया। जर्मनी के व्यवसायी बर्लिन—बग़दाद—रेलवे निकालने के लिए उत्सुक थे और ब्रिटेन यह नहीं चाहता था, यह भी महायुद्ध का एक मुख्य कारण था। वास्तव में यदि देखा जावे तो इन व्यवसायियों के लाभ के लिए ही देशों को विजय किया जाता है।

साम्राज्यवादी राष्ट्र पिछड़े तथा कमज़ोर राष्ट्रों को ऋण देकर, वहां व्यापारिक सुविधाएं प्राप्त करके तथा रेल, तार, खानें, और कारख़ाने स्थापित करके अपने विशेष स्वार्थ उत्पन्न कर लेते हैं। समय पाकर जब उस देश की राजनैतिक स्थिति डांवाडोल होती है तो उस पर अपना चक्र चला कर अधिकार

कर लेते हैं। कहीं कहीं किसी राष्ट्र पर अधिकार जमाने के लिए इन साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने ईसाई मिशनरियों का भी खूब उपयोग किया है। यदि देखा जावे तो ईसाई धर्मोपदेशक साम्राज्यवाद के अग्रदूत हैं। अपना पञ्जा फैलाने से पूर्व साम्राज्यवादी राष्ट्र अपने इन दूतों को वहां अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न करने के लिए भेज देते हैं। यह साम्राज्यवादी-अग्रदूत अपने धन के प्रभाव के कारण किसी भी देश में एक अराष्ट्रीय भावना वाला दल (ईसाइयों का) उत्पन्न कर देते हैं। फ्रांस के ईसाई पादरियों ने सीरिया में यही किया। उसी का यह परिणाम था कि वार्साई के सन्धि सम्मेलन में ईसाई पादरियों ने यह घोषणा की कि सीरिया निवासी फ्रांस के साथ रहना चाहते हैं। भविष्य में भी जब सीरिया के अरबों ने विद्रोह किया तो सीरियन पादरियों ने उस राष्ट्रीय विद्रोह को साम्प्रदायिक दंगे का रूप दे दिया। यदि कहीं पादरी इस प्रकार का गृह-कलह उपस्थित करमे में सफल नहीं होते, अथवा राष्ट्रीयता की भावना प्रबल होने से उनकी वहां दाल नहीं गलती, तब वह इस प्रकार के अनुचित कार्य करने लगते हैं कि वहां की प्रजा उनके साथ कठोर व्यवहार करने पर विवश हो जावे। उत्तेजना के उस आवेग में प्रजा ने जहां एक-दो ईसाई पादरियों के साथ दुर्व्यवहार किया कि साम्राज्यवादी राष्ट्र, जिसके यह पादरी अग्रदूत होते हैं, उस कांड का बहाना लेकर उस निर्बल राष्ट्र को दबोच लेते हैं। नामाकुआलैंड (जर्मन-दक्षिण-अफ्रीका) में

मिशनरियों की रक्षा का बहाना करके ही जर्मनी ने अपना झण्डा गाड़ा था। जर्मनी ने चीन के कियाचाऊ प्रदेश को भी दो पादरियों के मारे जाने का बहाना करके ही छीन लिया था।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि साम्राज्यवादी राष्ट्र पूँजीपतियों के लाभ के लिए युद्ध करते हैं, और स्वतन्त्र देशों को अपने आधीन बनाते हैं, किन्तु राष्ट्र को वे यह समझाने का प्रयत्न करते हैं कि यह सब राष्ट्र की भलाई के लिए किया जा रहा है। हाँ, यह बात तो अवश्य है कि लूट का अधिकांश भाग पूँजीपतियों की जेबों में जाता है, परन्तु थोड़ा-सा हिस्सा साधारण जनता को भी मिल जाता है। पूँजीपतियों के धन से चलने वाले पत्र बराबर राष्ट्रीयता के नाम पर साम्राज्यवादी नीति का समर्थन करते रहते हैं। भोली जनता यह समझती है कि राष्ट्र हित के लिए ही यह सब किया जा रहा है, और इसी कारण वह इस नीति का समर्थन करती है।

यह साम्राज्यवादी राजनीतिज्ञ जन-संख्या की वृद्धि पर बार बार ज़ोर देते हैं। यदि वे देखते हैं कि देश में कोई दल उनका विरोध कर रहा है तब उनकी ओर से कहा जाता है कि यदि हमारी जन-संख्या बढ़ गई, और हमारे पास उपनिवेश न हुए तो हमारा यह ऐश्वर्य कहाँ रहेगा, और हमारी जन-संख्या कहाँ जावेगी। इटली, जर्मनी और जापान के राजनीतिज्ञ अपने अपने देशवासियों को जन-संख्या की वृद्धि और उससे उत्पन्न होने वाली निर्धनता का भय दिखलाकर नये नये उपनिवेशों को प्राप्त

करने के लिए युद्ध की अनिवार्यता प्रमाणित करते हैं। कोई कोई साम्राज्यवादी राजनीतिज्ञ तो यहां तक कहते हैं कि उस बलवान राष्ट्र का, जिसकी जन-संख्या बढ़ रही हो, यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह अपनी बढ़ती हुई जन-संख्या के लिए उपनिवेशों पर अधिकार जमावे। कहने के लिए यह दलील ठीक जँचती है, परन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। १६१३ में जर्मनी के अधिकार में दस लाख वर्ग मील औपनिवेशिक भूमि थी फिर भी अधिकांश जर्मन, अमेरिका और कनाडा में जाकर बसते थे। ग्रेट ब्रिटेन के अधिकार में बहुत से उपनिवेशों के होते हुए भी वहां के निवासी बहुत बड़ी संख्या में अमेरिका में जाकर बसते हैं। उपनिवेशों पर अधिकार करने का वास्तविक उद्देश्य पूँजीपतियों के लाभ के सिवा और कुछ नहीं है।

ऊपर के पृष्ठों में हमने यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि पश्चिमीय देशों में औद्योगिक क्रान्ति के उपरान्त किस प्रकार साम्राज्यवादी मनोवृत्ति बन गई। साम्राज्यवादी राष्ट्र निर्बल राष्ट्रों को हड़प जाने के लिये उत्सुक तो थे ही, पूर्वीय राष्ट्रों की तत्कालीन पतित अवस्था ने उनकी महत्वाकांक्षा को पूर्ण होने का और भी सुअवसर प्रदान कर दिया। जिस समय पश्चिमीय राष्ट्र धार्मिक, औद्योगिक, तथा राज्य-क्रान्तियों के फलस्वरूप शक्तिवान राष्ट्र बन रहे थे, उस समय पूर्वीय राष्ट्रों की जैसी दयनीय दशा थी उसको देखते हुये इसमें तनिक भी आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि पूर्व के

बड़े बड़े राष्ट्रों ने भी इन साम्राज्यवादी राष्ट्रों की दासता का जुआ अपने कन्धों पर रख लिया।

बात यह थी कि जिस समय साम्राज्यवादी राष्ट्र पूर्वीय देशों को हड़प जाने का उद्योग कर रहे थे, उस समय सारे पूर्वीय देश घोर अन्धकार में पड़े हुए थे। संसार में कैसे कैसे क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गये, इसका उन्हें कुछ ज्ञान ही नहीं था। जब संसार के एक भाग में सम्पत्ति के उत्पादन की नवीन पद्धति का आविष्कार हो रहा था, उस समय पूर्व अपने उद्योग-धन्धों को उन्नति की चरम सीमा पर पहुंचा हुआ जानकर चुप बैठा था। जहां पश्चिमीय राष्ट्रों में धार्मिक तथा सामाजिक क्रान्ति के फल-स्वरूप बुद्धिवाद का युग प्रारम्भ हो रहा था, और रूढ़िवाद का भवन खंड खंड होकर गिर रहा था, वहां पूर्वीय देशों में विचार स्वातन्त्र का सर्वथा अभाव था, और पूर्वीय लोग बुरी तरह से रूढ़िवाद में फँसे हुए थे। फ्रांस की राज्य क्रान्ति के उपरान्त पश्चिमीय राष्ट्रों में सामन्तशाही का पतन हुआ और प्रजातंत्र की भावना का उदय हुआ। किन्तु उसी समय पूर्वीय देशों में अत्यन्त विकृति सामन्तशाही, जिसका घोर पतन हो चुका था, फलफूल रही थी। पूर्व के राष्ट्रों की सभ्यता बहुत प्राचीन थी, जिस समम आधुनिक साम्राज्यवादी राष्ट्र अत्यन्त असभ्य और बर्बर थे, उस समय पूर्वीय राष्ट्रों की सभ्यता बहुत ऊँचे तल पर थी। पूर्वीय राष्ट्र अपनी प्राचीन सभ्यता के अभिमान में फूले हुए थे। उनका यह दृढ़ विश्वास बन गया था

कि हमने उन्नति की उस चरम सीमा को पार कर लिया है जहां से आगे नहीं बढ़ा जा सकता। जिन राष्ट्रों की यह धारणा बन गई हो, जिन्होंने उन्नति के लिए प्रयत्न करना इस लिए छोड़ दिया हो, क्योंकि उससे अधिक उन्नति हो हो नहीं सकती, ऐसे राष्ट्रों का पतन अवश्यम्भावी था। महाराष्ट्र चीन का प्राचीन वैभव लुप्त हो गया था, किन्तु फिर भी वहां विचारों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। चीन सम्राट एक निरंकुश और स्वेच्छाचारी शासक की भांति चीनियों पर शासन करता था। भारतवर्ष की भी यही दशा थी, भारत राष्ट्र यह समझता था कि अब वह पूर्णता की चोटी पर पहुँच चुका है। अपने को पूर्ण समझ लेने के बाद यह राष्ट्र दिन दिन नीचे गिरने लगे। आज भी जब पूर्वीय राष्ट्रों में जागरण दृष्टिगोचर हो रहा है तब भी ऐसे व्यक्ति बहुत बड़ी संख्या में मिलेंगे जिनकी यही धारणा बनी हुई है कि हमें कुछ सीखना नहीं है। जो कुछ हमारे ऋषि मुनि कह गये हैं उसके आगे और कुछ है ही नहीं।

पूर्वीय-राष्ट्र जब इस प्रकार अहंकार में डूबे हुए थे उसी समय उनको दासता की बेड़ियों से जकड़ा जा रहा था और उन्हें उसका अनुभव ही नहीं हो रहा था। परिस्थिति ने उन्हें अकर्मण्य बना दिया था। अकर्मण्य लोगों में झूठी आध्यात्मिकता का उदय होना स्वभाविक है वही पूर्वीय राष्ट्रों के साथ हुआ। झूठी आध्यात्मिकता के अभिमान में फूलकर पूर्वीय-राष्ट्र

सांसारिक वस्तुओं को तुच्छ समझने लगे। कूप मंडक की भांति उनका ज्ञात बहुत ही सीमित और अधूरा था। राष्ट्रीयता क्या वस्तु है इसको पूर्वीय देश जानते भी नहीं थे। भारतवर्ष को ही ले लीजिए, उत्तर भारत को दक्षिण भारत के हित अनहित का कोई विचार नहीं होता था, साधारण प्रजा को इससे कोई मतलब नहीं था कि अंग्रेज़ नवाब सिराजउद्दौला अथवा मीरक़ासिम को क्यों बंगाल की मसनद से हटा देना चाहते हैं। बनारस का बड़े से बड़ा विद्वान भी गुजरात या पंजाब के विषय में कुछ नहीं जानता था। भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना नहीं थी, और न उनमें राजनैतिक एकता थी। उन्हें यह ज्ञात ही नहीं था कि एक जाति, एक संस्कृति, एक प्रकार की भाषा बोलने वाले, तथा एक ही प्रकार की ऐतिहासिक घटनाओं पर गर्व करने वाले लोगों की एकता किस प्रकार की होती है।

केवल बात यहीं तक नहीं रही, पूर्वीय राष्ट्रों ने अपने को संसार से पृथक् रखने का भरसक प्रयत्न किया। यदि चीन और जापान में विदेशों का भ्रमण करने वाले तथा विदेशों से व्यापार करने वाले को राज्य भीषण दंड देता था, तो भारतवर्ष में समाज और धर्म ने विदेश प्रवास की मनाई कर रक्खी थी। जिस प्रकार पानी रुक जाने से सड़ जाता है वही दशा इन गर्वीले राष्ट्रों की हुई। संसार से सम्बन्ध बनाए रखने का एक लाभ यह होता है कि विचारों और संस्कृतियों के संघर्ष से प्रत्येक

राष्ट्र बहुत कुछ सीखता है। अन्य राष्ट्रों की दौड़ में वह पीछे न छूट जावे इस लिए प्रत्येक राष्ट्र प्रयत्नशील रहता है। परन्तु पूर्वीय राष्ट्र तो मानों समाधि लगाकर बैठे हुए थे, वे किसी से कोई सरोकार रखने की आवश्यकता ही नहीं समझते थे। इसका फल यह हुआ कि जब पश्चिमीय राष्ट्रों ने बलपूर्वक उनका सर्वस्व हरण करना आरम्भ किया तो पूर्वीय राष्ट्र हतबुद्ध होकर टुकुर-टुकुर देखते रहे और कोई प्रतिकार न कर सके। सत्य तो यह है कि पूर्वीय राष्ट्रों को उस समय यह ज्ञात ही नहीं था कि इसका प्रतिकार कैसे किया जा सकता है।

पूर्वीय देशों की उस समय ऐसी पतित अवस्था थी कि व्यक्तिगत अथवा छोटे से समूह के लाभ के लिए राष्ट्र के साथ विश्वासघात करने से पूर्वीय देशवासी तनिक भी नहीं हिचकते थे। आज भी यह रोग पूर्वीय लोगों में मौजूद है। पूर्व के देशों के पिछले पतन काल का इतिहास पढ़िए तो ज्ञात होजावेगा कि अपने लाभ के लिए हम प्रसन्नता पूर्वक देश के साथ निस्सं-कोच होकर विश्वासघात करते रहे हैं। मिस्र, फ़ारस, अरेबिया, भारतवर्ष और चीन के उदाहरण ताज़े हैं। चीन के उत्तरीय प्रान्तों में जापान ने अपनी संरक्षकता में जो चीनी राज्य स्थापित कर रक्खा है वह किस बात का द्योतक है। क्या इससे यह प्रमा-णित नहीं होता कि जापान ने कुछ चीनियों को मोल ले लिया है। सीरिया में फ्रैंच सरकार कुछ अरबों और ईसाइयों को लालच देकर इसलिए साम्प्रदायिक कलह करवाती रही जिससे वहां

राष्ट्रीय आन्दोलन पनप न सके। और इटली ने अबीसीनिया के रासों (सामन्तों) को धन देकर अपने देश के साथ विश्वासघात करने पर राज़ी कर लिया। पूर्व के किसी देश पर दृष्टि डालिये, विश्वासघातियों को बहुत बड़ी संख्या में पाइयेगा। केवल अपढ़, निर्धन, तथा प्रभावहीन व्यक्ति ही धन के लालच से देश के प्रति विश्वासघात नहीं करते, वरन् वे लोग जिनकी समाज में प्रतिष्ठा है, जिनके पास धन है, जिन्हें उच्च शिक्षा मिली है, और जो अपने को नेता कहलाने का प्रयत्न करते हैं, वे भी देश के प्रति विश्वासघात करते हैं। हतभाग्य पूर्वीय देशों का यह राजरोग है। किन्तु अब पूर्वीय देशों के निवासी इन विश्वासघाती साम्राज्यवादियों के एजेण्टों को समझ गए हैं और उनका विश्वास कम करते हैं। फिर भी साम्राज्यवादी राष्ट्रों को तो उनकी सहायता मिलती ही रहती है।

पूर्वीय राष्ट्रों की इस पतित अवस्था का साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने खूब लाभ उठाया। उनकी नीति सफल हुई। क्रमशः उनका पूर्वीय देशों पर आधिपत्य हो गया और उन्होंने (पूर्वीय देशों ने) दासता की बेड़ियों को पहन लिया। साम्राज्यवादी विजयी राष्ट्र पूर्वीय देशों को राजनैतिक दृष्टि से ही पददलित करके सन्तुष्ट नहीं हुए। वे समझते थे कि जब तक पूर्वीय देश के निवासियों में मानसिक दासता उत्पन्न नहीं हो जाती, तब तक विजय अधूरी रहेगी। इसी अभिप्राय से विजेताओं ने उन देशों का शिक्षा कार्य अपने हाथों में ले लिया। देशी भाषाओं की

नितान्त अवहेलना करके विदेशी भाषा उन पर लादी गई। विजित देशों का इतिहास साम्राज्यवादी दृष्टिकोण से लिखा गया। विजेताओं द्वारा स्थापित स्कूल कालेजों और विश्व विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त नवयुवकों में स्वाभिमान तो लेश मात्र को भी नहीं रहता था। वे समझने लगते थे कि उनके देश का वर्तमान इतिहास तो अत्यन्त महत्वहीन है ही, साथ ही प्राचीन काल में भी वे कुछ अधिक समुन्नत नहीं रहे थे। उनकी अपनी कोई ऊंची सभ्यता नहीं थी, इस कारण वे विजेताओं की सभ्यता को ही अपना स्टैंडर्ड (आदर्श) बना लेते थे। पराधीन राष्ट्रों के नवयुवकों के सामने एक ओर अपने देश का भद्दे से भद्दा चित्र रक्खा जाता था, दूसरी ओर पश्चिमीय सभ्यता का सुन्दरतम स्वरूप उनको दिखलाया जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि पराधीन पूर्वीय राष्ट्रों के युवक अपनी जाति और देश को नीचा समझने लगे। उनकी दृष्टि में गोरी जातियां उनसे बहुत श्रेष्ठ दिखलाई पड़ती थीं। गोरे लोग पराधीन राष्ट्रों में शासन करने जाते, किन्तु वहां की प्रजा में मिलते जुलते नहीं थे। अपने क्लब स्थापित करके वे विजित जातियों से पृथक् रहने का प्रयत्न करते थे। उन्हें यह भय रहता था कि यदि विजित जाति के लोग हमारे घनिष्ठ सम्पर्क में आये तो वे हमारी निर्बलताओं को जान जावेंगे और हमारी धाक कम हो जावेगी।

साम्राज्यवादी राजनीतिज्ञों की यह चाल सोलह आने सफल हुई। पूर्वीय देशों की राजनैतिक स्वाधीनता तो नष्ट हो

ही चुकी थी, मानसिक दासता ने भी उन पर अधिकार कर-लिया। यह मानसिक दासता राजनैतिक दासता से भी भयंकर थी। हम पूर्वीय लोग यह समझने लग गये कि एक गोरा ही ईमानदार और न्याय प्रिय हो सकता है। मानसिक दासता के कारण पूर्वीय देशों का यहां तक पतन हो गया कि वे गोरों द्वारा शासित होने में ही सुख मानने लगे। भारतवर्ष में ऐसे बहुत से शिक्षित व्यक्ति आज भी मिलेंगे जो उच्च पदों पर भारतीयों के नियुक्त किये जाने का विरोध करेंगे। संयुक्त प्रान्त के इण्टर-मीडियेट बोर्ड ने अभी थोड़े दिन हुए एक प्रस्ताव के द्वारा इण्टरमीडियेट की शिक्षा का मध्यम अंग्रेज़ी के स्थान पर हिन्दी या उर्दू कर दिया तो बहुत से अध्यापकों ने इस परिवर्तन का विरोध किया। एक महोदय ने तो यहां तक कह डाला कि यह कुछ लोगों का पागलपन है। मानसिक दासता का इससे दुखद प्रमाण और कौनसा हो सकता है।

अंग्रेज़ी शिक्षा और योरोपियन प्रचारकों ने पूर्वीय लोगों की नस-नस में गुलामी का भाव भर दिया। वे लोग समझने लगे कि हम इन गोरों से विद्या, बुद्धि और बल सभी में हीन हैं, अतएव हमें इनकी दासता में रहना ही होगा। कुछ लोगों का यह भी विचार बन गया कि यह गोरे लोग हमारे यहां नहीं आते तो हम लोग जङ्गली बने रहते। रेल, तार, सड़कें, बिजली तथा आधुनिक सुविधाएं हमें प्राप्त न हो सकतीं। ऐसे भोले लोग यह नहीं समझते थे कि यह तो समय के अनुसार सभी देशों को

प्राप्त हो सकती थीं। इसके अतिरिक्त यह गोरे लोग अपनी पूँजी से तो यह सब कुछ बनवा ही नहीं रहे थे। अधिकांश पूर्वीय लोगों पर गोरों की ऐसी धाक जमी हुई थी कि वे स्वप्न में भी यह सोच नहीं सकते थे कि कभी यह विदेशी यहां से चले जावेंगे। बहुत से लोगों का तो यहां तक विश्वास जम गया कि यदि गोरे चले जावेंगे तो देश में बड़ी गड़बड़ तथा अशान्ति हो जावेगी। भारतवर्ष में आज भी कुछ ऐसे लोग मिलेंगे जो लगभग यही विचार रखते हैं। भाग्यवश ऐसे लोगों की संख्या कम होती जा रही है।

साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने एक चाल और भी चली। विजित देशों के कुछ शिक्षित तथा प्रभावशाली व्यक्तियों को उन्होंने राज्य के उच्च पद दे दिये। भू-स्वामियों, ज़मीदारों तथा राजाओं को राजनैतिक दृष्टि से पंगु बनाकर भी उनकी मर्यादा तथा स्वार्थों की रक्षा की, तथा कतिपय व्यवसायियों और व्यापारियों को भी पनपने दिया। आरम्भ में इस स्थिर-स्वार्थ वाले वर्ग से भी विजेताओं ने कोई सहानुभूति प्रगट नहीं की, किन्तु जब विजेताओं के विरुद्ध देश में असंतोष उत्पन्न होने लगा तो साम्राज्यवादी शक्तियों ने स्थिर स्वार्थ वालों को तनिक सी घूंस देकर अपनी ओर कर लिया। आज परतन्त्र देशों में जो स्थिर-स्वार्थ वाला वर्ग है, वही साम्राज्यवादो राष्ट्रों का सहायक बना हुआ है। भविष्य में जब कभी विदेशियों को निकालने का प्रश्न उपस्थित होगा, उस समय उसका सबसे अधिक विरोध

यही लोग करेंगे। यदि विदेशी चले जावेंगे तो स्थिर-स्वार्थों वाले लोग निर्धन देशवासियों का शोषण न कर सकेंगे। इस कारण वे नहीं चाहते कि विदेशी चले जावें। साम्राज्यवादी राष्ट्र पराधीन राष्ट्रों की लूट में उनके कतिपय देशवासियों को भी हिस्सा देकर उन्हें अपना समर्थक तथा सहायक बना लेते हैं। यदि कभी इन देशों में स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए क्रान्ति हुई तो स्थिर स्वार्थ वाले स्वतंत्रता आन्दोलन का साथ न देकर विदेशियों का साथ देंगे।

पूर्वीय देशों में एक विचार अत्यन्त मूर्खतापूर्ण फैला हुआ है, जिसने साम्राज्यवादी राष्ट्रों की स्थिति को और भी दृढ़ कर दिया। पूर्वीय लोगों का यह विश्वास है कि राजा में ईश्वर का अंश होता है। ईश्वर ही उसे शासन करने के लिए भेजता है। ईश्वर की इच्छा से ही राजाओं में परिवर्तन होता है। अतएव किसी भी राजा के विरुद्ध क्रांति करना, अथवा उसे सिंहासन से हटाना महा पाप है। भारतवर्ष में ऐसे बहुत से व्यक्ति मिलेंगे जो किसी प्राचीन विद्वान के लेख का उदाहरण देते हुए विश्वास के साथ यह कहेंगे कि यह तो हमें पहले से ही ज्ञात था कि हिन्दोस्तान में इतने वर्षों तक मुसलमानों का राज्य रहेगा, और फिर फिरंगियों (अंग्रेज़ों) का राज्य आवेगा। थोड़े दिनों की ही बात है कि एक धार्मिक सम्प्रदाय के आचार्य-जिन्हें उनके शिष्य ईश्वर मानते थे और जो स्वयं ईश्वर होने का दावा करते थे, एक बार एक राजनैतिक नेता से मिले। इस प्रश्न का उत्तर

देते हुए कि भारतवर्ष कबतक स्वतंत्र होगा, आचार्य महोदय ने कहा कि अभी मैं अंग्रेजों से और अधिक सेवा लेना चाहता हूं। जिन देशों में इस तरह के विचार फैले हों, वे पराधीन क्यों न रहें।

वास्तव में यदि देखा जावे तो इस प्रकार के विचारों का मुख्य कारण पूर्वीय लोगों की निर्बलता थी। पूर्व देशवासियों ने यह भली भांति समझ लिया था कि हम विदेशियों को देश से निकाल बाहर करने में असमर्थ हैं। उनका विश्वास था कि हममें शक्ति तथा संगठन का नितान्त अभाव है, हमारी सामाजिक दशा गिरी हुई है, और आपस में फूट का भाव कूट-कूट कर भरा हुआ है। साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने विजित राष्ट्रों को सदैव अपने अधीन बनाये रखने के लिए जहां तक सम्भव हो सका उनमें फूट उत्पन्न कराने का प्रयत्न किया और वे उसमें सफल भी हुए। भारतवर्ष में हिन्दू मुसलमान अपना सर फोड़ने लगे, सीरिया में ईसाई और मुसलमान अरबों को भिड़ाया गया, और पैलेस्टाइन में यहूदियों की समस्या खड़ी कर दी गई। यही नहीं एक जाति में भी आपस में एकता नहीं रही। तुर्कों के विरुद्ध युद्ध करने वालों का साथ अरब, फ़ारस, तथा अफ़गानिस्तान ने दिया। इस आपसी फूट के कारण पूर्व के लोगों को विश्वास हो गया था कि हम विदेशियों को कभी भी परास्त न कर सकेंगे। आधुनिक युद्ध सामग्री न होने के कारण उनका यह विश्वास और भी दृढ़ हो

गया। वे देखते थे कि देश में जितनी लड़ने वाली जातियां हैं उन्हें धन का लालच देकर विदेशियों ने अपने अधीन कर लिया है। विदेशियों के पास पर्याप्त धन और संगठन है, उनके पास आधुनिक युद्ध सामग्री प्रचुर राशि में है, और वे लोग अधिकांश में शिक्षित हैं। ऐसी दशा में यदि विदेशियों से युद्ध करने की मूर्खता भी की जावे तो पराजय के अतिरिक्त और कुछ प्राप्त न होगा।

पूर्व के लोगों को यह विश्वास हो गया था कि गोरी जातियां बल, बुद्धि, विद्या, संस्कृति तथा सभ्यता सभी में हम से श्रेष्ठ हैं। वे अजेय हैं। एशियाई जातियां उन्हें कभी पराजित ही नहीं कर सकतीं। ईश्वर ने उन्हें पूर्वीय जातियों पर शासन करने के लिए ही भेजा है। साम्राज्यवादी प्रचारकों ने इन भावों का खूब ही प्रचार किया और पूर्वीय लोगों के हृदयों में आत्माभिमान तथा स्वदेशाभिमान लेशमात्र को भी नहीं रहा। इस अन्धकार में साम्राज्यवादियों का कार्य खूब तेजी से चला, पूर्वीय राष्ट्र दिन प्रति दिन हताश और दास मनोवृत्ति के होते जा रहे थे। दासता को अनिवार्य और अवश्यम्भावी समझकर वे निश्चेष्ट से चुप-चाप बैठ गये। उनमें तब तक जागरण नहीं हो सकता था जब तक कि आत्म विश्वास उत्पन्न न होता। आत्म विश्वास उत्पन्न होने का केवल एक ही मार्ग था। वह था गोरों का किसी प्रकार एक बार रंगीन चमड़े वालों से युद्ध में हार जाना। इसके

बिना पूर्वीय राष्ट्रों में विश्वास उत्पन्न नहीं हो सकता था। किन्तु पूर्व ही नहीं संसार में ऐसी घटना असम्भव और अनहोनी समझी जाती थी।

अनहोनी भी हो गई, १६०४ में रूस जापान युद्ध हुआ। संसार, ने विशेष कर पूर्वीय देशों ने चकित होकर देखा कि उसी जापान ने, जो कल तक संसार से अपने को पृथक् किये हुए माध्यमिक युग की घोर निद्रा में पड़ा सो रहा था; योरोप के महाप्रतापी और शक्तिवान विशाल रूसी राष्ट्र की सेनाओं को बुरी तरह परास्त कर दिया। जिस रूस की शक्ति को देखकर ब्रिटेन भी भयभीत रहता था, उसी रूस को जापान ने युद्ध में पीट दिया।

जापान की विजय से समस्त पूर्वीय देशों की मानों आंखें खुल गईं, उनका महाभ्रम टूट गया। जो पूर्व अभी तक यह समझे बैठा था कि हम गोरी जातियों की तुलना में सब प्रकार से हीन हैं, और उनको कभी परास्त नहीं कर सकते, वह अपने विचार की असत्यता पर विचार करने लगा। इस युद्ध ने एशियावासियों में जमी हुई कायरता तथा नपुंसकता की जड़ को हिला दिया। पूर्वीय देशों में इस युद्ध के फल स्वरूप एक नवीन युग आरम्भ हुआ, इससे योरोपीय जातियों में वंश-परम्परागत श्रेष्ठता के बीज रहने की बात भ्रान्ति-मूलक सिद्ध होगई। पूर्व की यह धारणा कि गोरे अजेय हैं, जाती रही।

जापान की विजय को पूर्वीय देशों ने अपनी विजय समझा, इस कारण उनमें आत्म विश्वास का उदय हुआ। वे सोचने लगे कि दासता का ठेका उन्हीं के भाग्य में नहीं लिख दिया गया है। वे भी गोरों की ही भांति मनुष्य हैं और उनमें भी शक्ति है। यदि उस शक्ति का विकास किया जावे तो वे भी एक दिन स्वतंत्र और समुन्नत राष्ट्रों की भांति समृद्धिशाली हो सकते हैं। जापान ने थोड़े से समय में ही आश्चर्यजनक उन्नति करली थी, और जो कार्य जापान कर सकता था वह अन्य पूर्वीय देश भी कर सकते थे। उस समय समस्त पूर्वीय राष्ट्रों में यही विचार धारा प्रबल वेग से बहने लगी।

इस समय तक विजेताओं ने पूर्वीय लोगों को कायर बनाने के लिए जो जो पाठ पढ़ाये थे लोग उन्हें भूलने लगे। विजेताओं की सारी दलीलें उन्हें झूठी दिखलाई पड़ने लगीं। क्रमशः विजित जातियों का यह भ्रम भी टूटने लगा कि विजेता हमारी भलाई के लिए हमारे ऊपर शासन करते हैं। पराधीन पूर्वीय राष्ट्रों की समझ में धीरे धीरे यह आने लगा कि हमको पराधीन इसी लिए बनाया गया है कि हमारा शोषण किया जावे। अब पूर्वीय लोग समझने लगे कि हमारे शासकों ने जो रेल, तार, सड़कें, कल और कारखाने खोले हैं वे सब अपने लाभ के लिए। इनसे हमें कोई लाभ नहीं पहुँचता। उन्होंने देखा कि हम से ही कर लेकर हमको पराधीन बनाये रखने के लिए यह साम्राज्यवादी राष्ट्र बड़ी बड़ी सेनाएं रखते हैं। विदेशी राष्ट्रों ने पराधीन राष्ट्रों पर ऋणका

भारी बोझ इस लिए लाद दिया था कि जिससे विजित देश पर उनका अधिकार अधिक दिनों के लिए दृढ़ हो जावे। अब पूर्वीय देशों ने देखा कि उनके देश में अकाल अधिक पड़ने लगे थे और देश अधिकाधिक निर्धन होता जा रहा था। अधिकांश जनता भूखी रहती थी। पहले देश में चाहे रेल, तार, तथा अन्य आधुनिक सुविधाएं नहीं थीं, और न आज कल की भांति थोड़े से धनी व्यक्ति विलासता का जीवन ही व्यतीत करते थे, किन्तु कोई भी भूखा नहीं रहता था। गोरों के आर्थिक शोषण के कारण विजित देशों में अधिकांश जन संख्या भूखी रहने लगी।

पराधीन पूर्वीय राष्ट्रों ने जापान से अपनी तुलना की। उन्होंने देखा कि जापान ने इतने अल्प समय में जो आश्चर्यजनक औद्योगिक, सामाजिक, तथा राजनैतिक उन्नति करली है, वह केवल इस कारण कि वह स्वतन्त्र है। प्रत्येक प्रकार की उन्नति का आधार स्वतंत्रता ही है, यह पूर्वीय लोगों की समझ में भली प्रकार से आ गया।

इसी बीच में पराधीन राष्ट्रों के नवयुवक शिक्षा प्राप्त करने के लिए योरोपीय देशों में जाने लगे थे। वहां जाकर उन्होंने देखा कि गोरी जातियों में हम जो गुण ही गुण समझ बैठे थे, वह यथार्थ नहीं हैं। उनमें भी कमजोरियां हैं, किन्तु स्वतंत्र होने के कारण संसार में उनका आदर सम्मान है, और वे ऐश्वर्यशाली हैं। साथ ही उन्होंने देखा कि विद्या बुद्धि में हम किसी भी गोरे

से कम न होने पर भी पद-पद पर अपमानित होते हैं, हमको प्रत्येक व्यक्ति घृणा की दृष्टि से देखता है, क्योंकि हम दास हैं। इसका फल यह हुआ कि विदेशों से शिक्षा प्राप्त करके लौटने वाले युवकों के हृदय में अपने देश को स्वतंत्र करने की अग्नि प्रज्वलित हो उठी। अब विजित राष्ट्रों में अपनी-अपनी भाषा में समाचार पत्र निकलने लगे थे। इन समाचार पत्रों ने भी पराधीन देशों को जगाने का प्रशंसनीय कार्य किया। जो लोग कि विदेशों में नहीं गये थे और साम्राज्यवादी राष्ट्रों के द्वारा स्थापित विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त किये हुए थे, वे भी अब संतुष्ट नहीं थे। उन्होंने देखा कि वे चाहे कितने ही योग्य क्यों न हों परन्तु फिर भी उच्च पद अयोग्य गोरों को ही मिलते थे, और वे उन्हीं की आधीनता में क्लर्क होकर काम करते थे। अपने देश में भी पराधीन देश वासियों को अपमान सहन करना पड़ता था। इससे शिक्षित वर्ग में बहुत असन्तोष उत्पन्न हो रहा था। इधर पराधीन राष्ट्रों के व्यापारी तथा व्यवसायी भी विदेशी सत्ता का विरोध करने लगे, क्योंकि विदेशी शासकों की कर नीति तथा व्यापारिक नीति इस प्रकार की रहती थी कि जिससे विजित राष्ट्रों का व्यापार तथा व्यवसाय न पनप सके। राज्य से जो कुछ भी व्यवसायिक सुविधाएं मिलतीं, वह केवल उन गोरे पूंजीतियों को, जो अपनी पूंजी विजित देश में लगाते थे।

क्रमशः पूर्वीय राष्ट्रों में स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए आन्दोलन आरम्भ हुआ। किन्तु यह ध्यान में रखने की बात है कि आरम्भ

में राष्ट्रीय आन्दोलन में वे ही लोग अधिक संख्या में सम्मिलित हुए जो अधिक शिक्षित, धनवान, अथवा जमींदार थे। अर्थात् आरम्भ में साम्राज्यवादियों का विरोध उच्च श्रेणी के लोगों ने ही किया। क्रमशः मध्यम वर्ग भी राष्ट्रीय आन्दोलन में सम्मिलित हुआ। मध्यम वर्ग के सम्मिलित होने से राष्ट्रीय आन्दोलन अधिक तीव्र और तेजस्वी हो उठा। जैसे जैसे राष्ट्रीय आन्दोलन बल पकड़ता गया, वैसे ही साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने दमन करना आरम्भ किया। दमन से उसके मर्मस्थल पर बहुत बड़ा आघात पहुंचा, और सोई हुई जनता जाग पड़ी। क्रान्तिकारी गुप्त संस्थाएं इसी समय बनीं, जिनमें देश प्रेम से मतवाले नवयुवक सम्मिलित हुए। किन्तु उस समय तक किसान और मजदूरों में स्वतंत्रता की भावना नहीं पहुंची थी वे तो पूर्ववत ही भीरु, शासकों, जमींदारों और पूंजीपतियों के अत्याचारों को सहन करने वाले, तथा भाग्यवादी बने हुए थे। न तो वे स्वतंत्रता को समझते थे, और न उनमें राष्ट्रीयता की भावना का ही उदय हुआ था। वे राष्ट्रीय आन्दोलन से बिलकुल अछूते थे।

महायुद्ध के पूर्व कुछ ऐसे राष्ट्र थे जो नाम मात्र को स्वतंत्र थे, किन्तु साम्राज्यवादी शक्तियां क्रमशः उन्हें हड़प कर जाने का प्रयत्न कर रही थीं। फ़ारस, टर्की, अफ़गानिस्तान तथा चीन ऐसे ही राष्ट्र थे। उनका आर्थिक शोषण तो साम्राज्यवादी राष्ट्र कर ही रहे थे, उनकी स्वतंत्रता के दीपक को भी वे शीघ्र

ही बुझा देना चाहते थे। इन देशों में भी राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत हो गई, अब वे अपने सम्राटों का इन विदेशियों के द्वारा दबना सहन नहीं कर सकते थे। क्रमशः उक्त देशों के नेताओं का विश्वास हो गया कि जब तक इन स्वेच्छाचारी निरंकुश पतित नरेशों को सिंहासन से उतार नहीं दिया जाता, तब तक हमारे देश का निस्तार नहीं हो सकता। इसी कारण चीन, टर्की तथा फ़ारस में राज्य क्रान्तियां हुई, और राष्ट्रीय-आन्दोलन प्रबल हो गया।

इसी समय योरोपीय महायुद्ध के फल स्वरूप पूर्वीय देशों में राष्ट्रीयता की भावना प्रबल हो गई। १६१४ के उपरान्त पूर्वीय राष्ट्रों में स्वतंत्रता प्राप्त करने की आकांक्षा और भी बलवती हो उठी और वे साम्राज्यवाद का घोर विरोध करने के लिये दृढ़ प्रतिज्ञ हो गये।

प्रत्येक महायुद्ध उन जातियों के विचारों में एक क्रान्ति उत्पन्न कर देता है जो कि युद्ध में सम्मिलित होती हैं। योरोपीय महायुद्ध का प्रभाव संसार भर पर पड़ा, क्योंकि वह विश्व व्यापी युद्ध था। पूर्वीय देशों ने देखा कि गोरी जातियां आपस में ही लड़ रही हैं। अभी तक गोरी जातियां मिलकर एशिया तथा अफ्रीका के देशों का शोषण ही करतीं थीं, इस बार उन्होंने देखा कि वे ही राष्ट्र भूखे भेड़ियों की तरह आपस में भिड़ गये। इस युद्ध का एक अवश्यम्भावी परिणाम यह हुआ कि पूर्वीय

लोगों की दृष्टि में पाश्चात्य गोरी जातियों की पहली जैसी प्रतिष्ठा नहीं रही।

महासमर में ब्रिटेन तथा उसके मित्र फ्रांस ने संसार की सहानुभूति प्राप्त करने के उद्देश्य से अपनी शक्ति भर इस बात का प्रचार किया कि महायुद्ध संसार में सबलों का अत्याचर नष्ट करने के लिए लड़ा जारहा है। संसार में छोटे और बड़े सभी राष्ट्रों को जीवित रहने का अधिकार है। जर्मनी निर्बल राष्ट्रों को अपने अधीन बनाना चाहता है। बीसवीं शताब्दी में इस प्रकार बर्बरता का नग्न नृत्य नहीं होने देना चाहिए अतएव जर्मनी के विरुद्ध छोटे बड़े सभी राष्ट्रों को एक हो जाना चाहिए। यही नहीं, जैसे जैसे युद्ध भीषण होता गया, और ब्रिटेन तथा फ्रांस की दशा बिगड़ती गई, वैसे ही इन राष्ट्रों के राजनीतिज्ञ अपने अधीन देशों की अधिक सक्रिय सहायता प्राप्त करने के उद्देश्य से उन्हें यह आश्वासन देने लगे कि महायुद्ध के उपरान्त उन्हें बहुत कुछ अधिकार दे दिये जावेंगे। टर्की के अरब प्रान्तों को ब्रिटेन ने यह स्पष्ट वचन देकर अपनी ओर कर लिया कि युद्ध समाप्त होने पर वे बिलकुल स्वतंत्र हो जावेंगे, और जिस प्रकार की शासन पद्धति वे चाहें अपने देश में प्रचलित कर सकेंगे। उनसे यहां तक कहा गया कि ब्रिटेन केवल अरबों को टर्की की आधीनता से मुक्त करने के लिए ही उनका सहयोग मांगता है। अन्त में जब संयुक्त-राज-अमेरिका युद्ध में सम्मिलित हुआ, उस समय प्रेसीडैंट विलसन ने यह घोषणा की कि युद्ध

के उपरान्त प्रत्येक देश को स्वयं-भाग्य-निर्णय का अधिकार दिया जावेगा। कोई देश बल पूर्वक किसी राष्ट्र की अधीनता में नहीं रक्खा जावेगा। ऐसा संगठन किया जावेगा कि भविष्य में इस प्रकार का युद्ध सम्भव ही न हो सके। और संसार में पूर्ण शान्ति स्थापित करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन खड़ा किया जावेगा।

पराधीन निर्बल तथा शोषित पूर्वीय राष्ट्र इस घोषणा से बहुत उत्साहित हुए। उन्होंने समझा कि संसार में एक स्वर्ण युग का उदय होने वाला है। और उस स्वर्ण युग को लाने के लिए यह आवश्यक है कि मित्र राष्ट्रों की विजय हो। ब्रिटेन और फ्रांस भी दबी जबान से प्रेसीडेंट विलसन की घोषणा का समर्थन कर रहे थे क्योंकि संयुक्त-राज्य-अमेरिका का सहयोग ब्रिटेन और फ्रांस के लिए जीवन और मृत्यु का प्रश्न था। यदि संयुक्त-राज्य-अमेरिका ब्रिटेन का पक्ष ग्रहण न करता तो उस युद्ध का क्या परिणाम होता यह प्रत्येक मनुष्य जानता है। अतएव ब्रिटेन और फ्रांस ने प्रेसीडेंट विलसन की घोषणा का उस समय समर्थन करना ही उचित समझा, यद्यपि वे हृदय से उस घोषणा के विरुद्ध थे।

इसका फल यह हुआ कि पददलित राष्ट्रों में अपूर्व आशा और उत्साह का संचार हुआ, और उन्होंने यथाशक्ति मित्र राष्ट्रों की सहायता की। लाखों की संख्या में भारतीय सेनाएं योरोप

में जाकर लड़ीं, चीन, मिस्र, तथा अरब ने अपने असंख्य वीरों को मित्र राष्ट्रों के लिए बलिदान कर दिया। मित्र राष्ट्रों की विजय हुई, और जर्मनी धराशायी हुआ। पराधीन और निर्बल पूर्वीय राष्ट्रों ने समझा कि अब हमारा भाग्य उदय हुआ, और हमें भी स्वतन्त्रता प्राप्त होगी। उन्हें विश्वास था कि जब एक सिद्धान्त के लिए असंख्य धन और जन का नाश किया गया है तो हमें स्वयं भाग्य निर्णय का अधिकार अवश्य दिया जावेगा।

किन्तु वार्साई संधि के उपरान्त इन भोले निर्बल पूर्वीय राष्ट्रों की समझ में आया कि यह भी एक साम्राज्यवादी चक्र था और हमको बहुत बड़ा धोखा दिया गया। साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने उन देशों पर शासनादेश (Mandate) प्राप्त कर लिया और अपने आधीन देशों की मांगों को भी ठुकरा दिया। इस ऐतिहासिक विश्वासघात के कारण पूर्वीय देशों की आंखें खुल गईं। उन्होंने साम्राज्यवाद का वास्तविक स्वरूप देख लिया। अपनी संचित आशा को इस प्रकार नष्ट होते देखकर उनको जहाँ आन्तरिक व्यथा हुई वहां उनके हृदय में क्षोभ की प्रबल लहर भी उठ खड़ी हुई। यद्यपि इन पराधीन राष्ट्रों ने एक ऐसे अमूल्य अवसर को अपने हाथ से निकल जाने दिया जबकि वे दासता की श्रृंखलाओं को बहुत कुछ शिथिल कर सकते थे परन्तु इस प्रकार धोखा खाने से दो बड़े लाभ हुए। एक तो उन पददलित राष्ट्रों को यह विश्वास हो गया कि यह साम्राज्यवादी राष्ट्र हमें स्वयं स्वतन्त्रता कभी प्रदान न करेंगे। अतएव यदि हमें अपने देश को स्वतन्त्र

करना है तो हमें उनका विरोध करना पड़ेगा। दूसरा लाभ यह हुआ कि पूर्वीय लोगों का गोरी जातियों पर से विश्वास उठ गया और वे उनसे घृणा करने लगे। महायुद्ध के पहले पूर्वीय देशों में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी जो गोरी जातियों की सद्इच्छा में विश्वास करते थे। किन्तु महायुद्ध के उपरान्त ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम रह गई। गोरी जातियों पर से उनका विश्वास बिलकुल उठ गया।

इसका फल यह हुआ कि यौरोपीय महायुद्ध के उपरान्त इन पराधीन तथा पददलित राष्ट्रों में प्रबल विद्रोह की भावना जाग पड़ी। मिस्र, इराक़, सीरिया, पैलेस्टाइन, फ़ारस, तथा भारतवर्ष में जो राष्ट्रीयता का विस्फोट हुआ वह इन्हीं कारणों से हुआ था। साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने घोर दमन करके इन आन्दोलनों को दबा दिया। परन्तु यह निश्चय हो गया कि अब यह पराधीन पूर्वीय राष्ट्र स्वतंत्रता प्राप्त किये बिना नहीं रहेंगे। उनमें अपनी पराधीनता के प्रति भीषण क्षोभ और राष्ट्रीय भावना का प्रदुर्भाव हो चुका था।

महायुद्ध का एक प्रभाव और भी हुआ। लाखों की संख्या में पूर्वीय राष्ट्रों के किसान और मज़दूर महायुद्ध में कुली अथवा सैनिक के रूप में गये थे। वे विदेशियों के सम्पर्क में आये और उन्हें वहां की राजनैतिक तथा आर्थिक स्थिति को देखने का अवसर मिला। उन अशिक्षित सैनिकों के विचारों में इस प्रवास से एक

क्रान्ति हुई। जब वे स्वदेश को लौटे और अस्थायी सेनाएं तोड़ दी गईं तो वही सैनिक अपने गांवों में जाकर रहने लगे। इस प्रकार नवीन विचार धारा देश के कोने कोने में फैल गई।

इसी समय रूसी क्रान्ति हुई, जिसका पूर्वीय राष्ट्रों पर बहुत प्रभाव पड़ा। १९१७ की रूसी क्रान्ति ने पूर्वीय राष्ट्रों को साम्राज्यवाद का विरोध करने के लिए बहुत अधिक प्रोत्साहन दिया। वास्तविक बात तो यह थी कि इस बोलशैविक क्रान्ति से पूंजीवादी राष्ट्र बहुत भयभीत हो गये थे। उन्होंने देखा कि यदि कम्यूनिज्म का प्रचार हमारे देशों में भी हो गया तो पूंजीवाद का समूल नाश अवश्यम्भावी है। अतएव कम्यूनिज्म के विषैले प्रभाव से अपने देश को बचाने के लिए उन्हें यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि रूसी बोलशैविक क्रान्ति को किसी प्रकार असफल कर दिया जावे। इसी उद्देश्य से सब पूंजीवादी राष्ट्रों ने रूस से व्यापारिक तथा राजनैतिक सम्बन्ध विच्छेद कर लिया और मिलकर रूस पर आक्रमण कर दिया। रूस ने देखा कि यदि जीवित रहना है तो संसार के अन्य देशों के साथ उसे सम्बन्ध रखना ही पड़ेगा। पूंजीवादी पश्चिमीय राष्ट्रों ने रूस को धक्का दे दिया था, अतएव रूस ने प्राच्य देशों की ओर अपनी दृष्टि डाली।

रूस ने देखा कि पश्चिम का दर्वाज़ा उसके लिये बन्द है, अतएव उसने पूर्वीय देशों को अपनाया। साथ ही अपनी रक्षा

करने के लिये रूस ने यह आवश्यक समझा कि इन पराधीन राष्ट्रों में साम्राज्यवाद के विरोध की भावना जागृति करदी जावे। समय भी रूस के अनुकूल था। महायुद्ध के उपरान्त एशिया वासियों को जो कटु अनुभव हुआ था, उसके कारण उनमें विरोध की एक तीव्र भावना का उदय हो चुका था। सोवियट रूस ने उस विरोध को और भी तीव्र कर दिया। किन्तु ज़ार के समय में रूस स्वयं एक महत्त्वकांक्षी साम्राज्यवादी राष्ट्र था। पूर्वीय राष्ट्रों को उस समय रूस से जितना ख़तरा था, उतना अन्य किसी भी राष्ट्र से नहीं था। अतएव सोवियट रूस ने एक घोषणा निकाल कर पूर्वीय राष्ट्रों को यह आश्वासन दिया कि वर्तमान सोवियट सरकार ने ज़ारशाही रूस की नीति का परित्याग कर दिया है। वह पूर्वीय राष्ट्रों को पश्चिमीय साम्राज्य वाद के पंजे से निकलने में पूरी सहायता करेगा। पश्चिमीय साम्राज्यवादी राष्ट्र पूर्वीय राष्ट्रों का आर्थिक शोषण करने पर तुले हुए हैं। सोवियट रूस चाहता है कि पददलित राष्ट्र उस की सहायता से साम्राज्यवादी राष्ट्रों की आधीनता से अपने को मुक्त करलें। इसी उद्देश्य से रूस ने कमाल पाशा को यूनान के विरुद्ध सहायता दी, और टर्की की राष्ट्रीय सरकार को सबसे पहले स्वीकार कर लिया। फ़ारस के साथ भी सन्धि करके रूस ने अपने प्रभाव क्षेत्र में सब विशेष सुविधाओं को छोड़ दिया। चीन के पुनः निर्माण में भी रूस का बड़ा हाथ रहा है। यही नहीं, रूस ने अपने साम्राज्य में रहने वाली मुस्लिम जातियों

(तातार, काकेशियन इत्यादि) को भी यदि वे चाहें तो स्वतंत्र कर देने की घोषणा कर दी। साथ ही रूस ने यह भी बतला दिया कि यदि तूरानी रूस के साथ रहना चाहेंगे तो उनकी सभ्यता, संस्कृति, तथा धर्म प्रचार में कोई हस्तक्षेप न किया जावेगा। आर्थिक मामलों के लिए यदि वे रूस से मिल जावें तो उनकी भलाई ही होगी। तूरानी लोगों ने रूस की बात मानली और वे रूस के पंचायती राज्य में सम्मिलित हो गये। इसका फल यह हुआ कि एशियायी राष्ट्रों का रूस पर विश्वास जम गया। १६१६ में बहुत से एशियाई राष्ट्रों के प्रतिनिधि रूस गये। लेनिन ने उनका स्वागत किया। टर्की और अफ़गानिस्तात से तो रूस ने सन्धि भी करली। उस समय भारतवर्ष से बरकतउल्ला तथा श्री मानवेन्द्रनाथ राय भी रूस गये थे। उनका उद्देश्य यह था कि भारतवर्ष में क्रान्ति को सफल बनाने के लिए वे रूस की सहायता प्राप्त करें। उस समय रूस की क्रान्ति को असफल बनाने के लिए साम्राज्यवादी राष्ट्र तन, मन और धन से चेष्टा कर रहे थे। पूंजीवाद राष्ट्र प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से रूस के क्रान्ति विरोधी वर्ग की सहायता कर रहे थे। लेनिन यह भली भांति जानता था कि रूस की क्रान्ति तभी सफल हो सकती है, जब कि योरोप के समीपवर्ती राष्ट्रों में भी सोवियट सरकार स्थापित हो जावे। इसी उद्देश्य से सब से पहले रूस ने जर्मनी, आस्ट्रिया, और हंगरी में क्रान्ति कराने का प्रयत्न किया। किन्तु १६१६ के मध्य में उन देशों में क्रान्ति

असफल हो गई और थोड़े समय के लिए योरोप के कम्यूनिस्ट बनने की आशा जाती रही। अब रूस के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह एशियाई राष्ट्रों में साम्राज्यवाद के विरोध की तीव्र भावना भरदे, जिससे कि उसके शत्रुओं की शक्ति क्षीण हो जावे।

इसी उद्देश्य से सोवियट रूस ने अपने प्रचारकों को एशिया के भिन्न भिन्न राष्ट्रों में क्रान्ति का संगठन करने के लिए भेजा। सोवियट सरकार के राजनीतिज्ञ इन प्रचारकों का बहुत आदर करते, और उनसे कहते थे कि तुम पददलित एशियाई राष्ट्रों के असंख्य व्यक्तियों को अंग्रेजों के हाथ से छुड़ाने के लिये भेजे जा रहे हो। बोलशैविक चाहते थे कि साम्राज्यवाद का चारों ओर से विरोध हो। इस विरोध का संगठन करने के लिए मास्को की थर्ड-इंटरनेशनल नामक महासभा ने बाकू में एशियाई लोगों की एक साम्राज्य विरोधी कांग्रेस बुलाई। इस कांग्रेस का अधिवेशन सितम्बर १९२० में हुआ और उसके सभापति कामरेड ज़िनोविफ चुने गये। बाकू कांग्रेस में सैंतीस राष्ट्रों के लगभग दो हज़ार प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। एशियाई राष्ट्रों के प्रतिनिधियों को कांग्रेस में सम्मिलित होने के लिए निमंत्रण देते हुए जो घोषणा निकाली गई थी, उसका निम्नलिखित अंश महत्वपूर्ण है। उसमें लिखा था "फारस के किसान और मज़दूरो! तेहरान की कज़ार सरकार तथा उसके सहायक प्रान्तीय खां तुम्हें शताब्दियों से लूट रहे हैं। जिस भूमि पर

शरियत के अनुसार तुम सबका समान अधिकार होना चाहिए था, उसको तेहरान की सरकार तथा उसके थाड़े मे पृष्ठ-पोषकों ने तुमसे छीन लिया है। तेहरान सरकार अपनी इच्छानुसार उस भूमि से लाभ उठाती है। अपनी इच्छानुसार अब तक सरकार तुम पर टैक्स लगाती और तुम्हारा आर्थिक शोषण करती रही, और जब उसने देख लिया कि देश अब इतना कंगाल हो गया कि अब वह अधिक धन चूसने में असमर्थ है तो सरकार ने गत वर्ष तुम्हें ब्रिटिश पूंजीपतियों के हाथ बेच दिया। अनातोलिया के किसानो! अंग्रेज फ्रांसीसी और इटैलियन तुम्हारे पूर्वजों के गौरवशाली नगर कुस्तुनतुनिया पर तोप के बल से अधिकार किये बैठे हैं। उन्होंने सुलतान को क़ैद कर लिया है और वे टर्की के सभी प्रान्त आपस में बांट लेना चाहते हैं। वे तुम्हारा सर्वस्व छीन लेना चाहते हैं। तुम लोग मुस्तफ़ा कमाल पाशा के झण्डे के नीचे इन साम्राज्य-वादियों से लड़ने के लिए इकट्ठे हुए हो, लेकिन हमने सुना है कि तुम वास्तविक किसान मज़दूर पार्टी का इस लिए संगठन करना चाहते हो कि यदि बड़े बड़े पाशा मित्र-राष्ट्रों (इङ्गलैंड फ्रांस इत्यादि) से संधि करने का विचार करें तो तुम उनका विरोध कर सको। आरमीनिया के मजदूर तथा किसानो! तुम अंग्रेजी पूंजीवाद के शिकार बने हुए हो। ये पूँजीपति ही तुम्हारे सब कष्टों का कारण हैं। सीरिया और अरब के किसानो! अंग्रेज और फ्रांसीसियों ने तुम्हें तुर्कों की अधीनता

से स्वतंत्र कर देने की आशा दिलाई थी। परन्तु टर्की की अधीनता से निकाल कर उन्होंने तुम्हें अपना दास बना लिया। भेद केवल इतना ही है कि अब तुम अधिक शक्तिशाली साम्राज्य की अधीनता में ,आ गये, और दिन प्रति दिन अधिक लूटे जाने लगे। निकट पूर्व के मज़दूर और किसानो! यदि तुम अपना संगठन करलो अपने देश के किसान मज़दूरों की सरकार स्थापित करलो, और यदि तुम सोवियट रूस से मिल जाओ तो तुम विदेशी पूंजीपतियों को सफलता-पूर्वक अपने देश से निकाल सकते हो, और अपने देश के लुटेरे पूंजीपतियों से अपना पुराना हिसाब चुका सकते हो। उस समय यदि तुम संसार की अन्य साम्यवादी सरकारों से संधियां कर लोगे तो तुम्हारी शक्ति बहुत बढ़ जावेगी, और तुम, संसार के मज़दूर और किसान एक हो जाओगे। इन समस्याओं पर हम बाकू में विचार करना चाहते हैं। अतएव तुम लोग अधिक से अधिक संख्या में इस कांग्रेस में सम्मिलित हो। सदियों से तुम अपने तीर्थ-स्थानों की यात्रा के लिए इस मरुभूमि को पार करते आ रहे हो। इस बार इस मरुभूमि, पहाड़ों और नदियों को, आपस में मिलकर इस बात पर विचार करने के लिए पार करो कि तुम साम्राज्यवादी राष्ट्रों की दासता से कैसे मुक्त हो सकते हो, और सब जातियां भाई भाई का सम्बन्ध स्थापित कर, स्वतंत्रता तथा समानता का अधिकार किस प्रकार प्राप्त कर सकती हैं।"

कांग्रेस के सभापति ज़िनोविफ़ ने अपना भाषण देते हुए कहा था "हमें ब्रिटिश पूँजीवाद को अपनी शक्तिभर धक्का लगाना चाहिए। किन्तु पूर्व में होने वाली क्रान्ति का केवल यही उद्देश्य न होगा कि वह ब्रिटिश साम्राज्यवाद को हटाकर अपने धनी देशवासियों को आराम से निर्धन किसानों और मज़दूरों का शोषण करने दे।"

निकट पूर्व के देशों की भिन्न भिन्न सभ्यता, धार्मिक कट्टरता तथा औद्योगिक दृष्टि से माध्यमिक युग का आर्थिक संगठन—यह कुछ ऐसे कारण थे जिनसे सोवियट रूस का उद्देश्य अर्थात् कम्यूनिज्म का प्रचार तथा बोलशैविक क्रान्ति करना सफल नहीं हुआ।

यद्यपि टर्की, फ़ारस और अफ़गानिस्तान में साम्यवादी क्रान्ति तो न हो सकी किन्तु इन देशों ने रूस से सहायता पाकर अपने को स्वतंत्र कर लिया। यह रूस की बहुत बड़ी विजय थी, क्योंकि इन एशियाई देशों के स्वतंत्र हो जाने से रूस के घोर शत्रु साम्राज्यवादी ब्रिटेन को बहुत बड़ा धक्का लगा और पूर्व में उसकी प्रतिष्ठा कम हो गई। पहले तो ब्रिटेन ने रूस के निकट-पूर्व में बढ़ते हुये प्रभाव को रोकना चाहा, पीछे फ़ारस के उत्तर में तथा कास्पियन समुद्र के समीपवर्ती प्रदेश में सैन्य-संचालन भी किया गया। किन्तु जब ब्रिटेन को सोवियट रूस का विरोध करने में सफलता नहीं मिली तब उसने सोवियट सरकार

को स्वीकार कर लिया। क्रमशः सोवियट रूस का अन्य योरोपीय राष्ट्रों से भी राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित हो गया। ब्रिटेन को यह भय था कि सोवियट रूस कहीं भारतवर्ष में कम्यूनिज्म का प्रचार करने में सफल न हो जावे। कोई अन्य उपाय न देख कर, उसे रूस की सोवियट सरकार को स्वीकार करना ही पड़ा।

रूस की क्रान्ति का प्रभाव केवल निकट पूर्व (पश्चिमीय एशिया) पर ही नहीं पड़ा, सुदूर पूर्व (पूर्वीय एशिया) पर भी पड़ा। डाक्टर सनयातसेन रूस की बोलशैविक क्रान्ति से बहुत प्रभावित हुए थे और यही कारण था कि क्यू-मिन-टांग पर भी रूसी क्रान्ति का प्रभाव पड़ा था। अपनी मृत्यु के पूर्व, मार्च १६२५ में चीन की राष्ट्रीयता के पुजारी डाक्टर सनयातसेन ने एक लम्बा पत्र लिखकर सोवियट रूस की सरकार के प्रति अपनी नीति का स्पष्टीकरण किया था । यूनियन-आव-सोवियट-रिपबलिक्स की कार्यकारिणी समिति को लिखते हुए उन्होंने कहा था "जब कि मैं यहां एक ऐसे भयानक रोग से पीड़ित होकर पड़ा हुआ हूं जिसके विरुद्ध कुछ कर सकने में मनुष्य असमर्थ है, तब मेरे विचार आपकी, मेरे दल की तथा मेरी मातृभूमि की ओर जाते हैं। आप लोग उन स्वतंत्र प्रजातंत्रों का नेतृत्व कर रहे हैं जो कि अमर लेनिन की, संसार के पीड़ित तथा शोपित वर्गों को देन है। लेनिन की उस देन की सहायता से साम्राज्यवाद के शिकार उस अन्तर्राष्ट्रीय शासन से बचकर निकल सकेंगे, जो कि दासता और अन्याय के आधार पर खड़ा हुआ है । मैं अपनी

मृत्यु के उपरान्त एक ऐसे दल को छोड़ जाऊँगा जिससे मुझे आशा है कि वह आप लोगों की, चीन तथा अन्य पराधीन राष्ट्रों को, साम्राज्यवाद की दासता से छुड़ाने में, सहायता करेगा। मैं अपना कार्य अधूरा छोड़ जाऊँगा और मुझे उस अधूरे कार्य को उन लोगों के हाथ में देना होगा, जो दल के सिद्धान्तों और आदर्शों के प्रति सच्चे रहेंगे। अतएव मैं ने क्यू-मिन-टांग के ऊपर यह उत्तरदायित्व रक्खा है कि वह चीन में क्रान्तिकारी राष्ट्रीय आन्दोलन को ऐसी दृढ़ता से चलाता रहे जिससे चीन को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मैंने अपने दल को आप लोगों से सम्बन्ध बनाये रखने की सलाह दी है। मुझे दृढ़ विश्वास है कि आप लोग जैसी हम लोगों की सहायता अभी तक करते आये हैं, वैसी ही भविष्य में भी करते रहेंगे। मैं अब आप लोगों से, इस आशा के साथ विदा ले रहा हूँ कि वह दिन शीघ्र ही आयेगा जब यूनियन-आव-सोवियट-रिपबलिक्स स्वतंत्र तथा शक्तिशाली चीन का, एक मित्र तथा सहायक के रूप में स्वागत करेगी, और संसार के पददलित तथा शोषित राष्ट्रों के उद्धार के लिए होने वाले भावी युद्ध में यह दोनों मित्र साथ साथ रहकर विजय लाभ करेंगे।" सनयातसेन की मृत्यु के बाद जनवरी १६२६ में मास्को में सनयातसेन-विश्व-विद्यालय स्थापित किया गया, जिसमें २५० चीनी छात्र तथा छात्राएं विद्याध्ययन करने के लिए आयी थीं। ये सब विद्यार्थी क्यू-मिन-टांग के सदस्य थे।

रूसी राज्य-क्रान्ति के उपरान्त, सोवियट सरकार ने जिस प्रकार फ़ारस और टर्की के प्रति सद्भावना प्रदर्शित की थी और नवीन नीति को घोषित किया था वैसे ही उसने चीन के प्रति भी किया। सोवियट सरकार ने एक घोषणा निकाल कर चीन की पूर्ण स्वतंत्रता को स्वीकार कर लिया, और रूसियों को चीन में जो विशेष अधिकार अथवा सुविधाएं प्राप्त थीं, उन्हें छोड़ दिया। इसका चीन के राष्ट्रीय दल पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा, क्योंकि बहुत दिनों से चीन विदेशी राष्ट्रों के इन विशेष अधिकारों से अपना पिंड छुड़ाना चाहता था। १६२२ की वाशिंग्टन कांफ्रेंस के फल-स्वरूप एक कमीशन इस बात का निर्णय करने के लिए बैठा था कि क्या चीन में न्याय की व्यवस्था उस सीमा तक सुधर गई है कि विदेशी अपने विशेषाधिकार छोड़ दें। किन्तु रूस ने इससे पहले ही वे सब अधिकार स्वयं छोड़ दिये। जब काराखां रूसी प्रतिनिधि होकर चीन में आया तो उसने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की "चीन का सच्चा मित्र रूस ही है। पश्चिमीय राष्ट्रों से चीन का कुछ भला होगा, ऐसी आशा करना भूल है।" वार्साई की संधि में चीन के साथ जो अन्याय और धोखे का व्यवहार हो चुका था, उससे चीन राष्ट्र क्षुब्ध था, अतएव काराखां को अपने प्रयत्न में सफलता मिली। ३१ मई १६२४ को चीन और रूस की संधि होगई, जिससे वे दोनों राष्ट्र एक हो गये। जितने भी राजनैतिक प्रश्न थे, उनका निपटारा होगया। सनयातसेन की मृत्यु के बाद, चियांग-काई-

शोक की नीति के कारण, रूस और चीन का संबंध बहुत अच्छा नहीं रहा, यद्यपि आरम्भ में सोवियट सरकार की सहायता से चीन के राष्ट्रीय आन्दोलन को बहुत बल मिला था।

सन् १९२० के उपरान्त भारतवर्ष में भी राष्ट्रीय आन्दोलन का ज्वालामुखी फूट पड़ा। कारण यह था कि भारतवासी महायुद्ध के उपरान्त अपने सहयोग तथा सेवा के पुरस्कार के, तथा मित्र-राष्ट्रों के सुन्दर दिखने वाले उच्च सिद्धान्तों की घोषणा के, फल-स्वरूप स्वराज्य मिलने की बहुत कुछ आशा लगाये बैठे थे। परन्तु जब उन्हें रालेट-ऐक्ट्, जलियांवालाबाग तथा १९२१ के भयंकर दमन का सामना करना पड़ा तो उनकी आंखें खुलीं, और तीव्र राष्ट्रीय भावना का विस्फोट हुआ। उसी समय महात्मा गांधी का भारतवर्ष के राजनैतिक गगन पर उदय हुआ, और देश में एक अभूतपूर्व मानसिक क्रान्ति हुई। प्रथम सत्याग्रह–आन्दोलन ने भारतवर्ष में अभूतपूर्व चैतन्य भर दिया; पिछली कई शताब्दियों से भारतवर्ष ने इस प्रकार के चैतन्य का अनुभव नहीं किया था। इस ने भारतीयों के हृदय और मस्तिष्क पर से अंग्रेज़ों की धाक को दूर कर दिया। भारतवर्ष एक बार फिर अपनी सभ्यता संस्कृति की ओर घूम कर देखने लगा। यह एक महान परिवर्तन था। भारतवर्ष से अंग्रेज़ों का प्रभाव उठ गया, यद्यपि उनका शासन बना रहा। राष्ट्रीय आन्दोलन की यह महान सफलता थी।

यद्यपि जापान की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति जाग पड़ी थी और

वह सुदूर पूर्व का स्वामी बनने की युक्तियां सोच रहा था परन्तु पश्चिमीय राष्ट्रों का विरोध करने में वह भी अन्य पूर्वीय देशों के साथ था; उसका हित इसमें था कि पश्चिम के साम्राज्यवादी राष्ट्रों का पंजा, पूर्व पर से ढ़ीला हो जावे।

इन के अतिरिक्त और भी जितने राष्ट्र साम्राज्यवादी राष्ट्रों द्वारा पीड़ित थे, उनमें भी विरोध की भावना जागृत हो गई थी। वार्साई की संधि के उपरान्त, साम्राज्यवादी राष्ट्रों का वास्तविक स्वरूप प्रगट हो चुका था, उनके षड्यंत्र, और अत्याचारों की कहानी प्रगट हो चुकी थी, और शोषित राष्ट्रों का उन पर से विश्वास उठ चुका था।

यदि देखा जावे तो योरोपीय महायुद्ध के उपरान्त ही पूर्वीय राष्ट्रों में तीव्र क्रान्ति की भावना फैली, उनकी आंखें खुलीं, और उन्होंने शोषण से होने वाली असहनीय पीड़ा का अनुभव किया। यही कारण हैं कि योरोपीय महायुद्ध के उपरान्त ही चारों ओर से साम्राज्यवादी राष्ट्रों का सक्रिय विरोध होने लगा। पद-दलित राष्ट्रों और साम्राज्यवादी राष्ट्रों का यह युद्ध अभी चल रहा है, और तब तक चलता रहेगा जब तक कि पददलित राष्ट्र अपनी पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त नहीं कर लेते। प्रत्येक पीड़ित राष्ट्र के निवासी की यही आकांक्षा है कि वह समय शीघ्र आवे।

—०-*-०—

दूसरा परिच्छेद

मिस्र की राष्ट्रीय जागृति

पूर्वीय देशों में मिस्र (ईजिप्ट) योरोपीय साम्राज्यवाद का प्रथम शिकार हुआ, सम्भवतः इसका कारण यह था कि योरोप के सम्पर्क में आने का दुर्भाग्य भी पूर्व में सर्व-प्रथम उसी का था। प्राकृतिक देन का धनी होने के अतिरिक्त, मिस्र सामरिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। भारतवर्ष का जलमार्ग तथा स्वेज नहर मिस्र के शासक के अधीन अनायास ही आ सकते हैं। भूमध्य सागर तथा हिन्द महासागर के

एकमात्र द्वार—लाल समुद्र—को अपने अधिकार में रखने के लिए माल्टा, मिस्र तथा जिब्राल्टर पर अपना अधिकार रखना अत्यन्त आवश्यक है। सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होना ही मिस्र के लिए घातक सिद्ध हुआ, और साम्राज्यवादी ब्रिटेन उसको परतंत्र बनाये रखने के लिए राजनैतिक चाल चलता रहा।

अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्त में फ्रांस की प्रसिद्ध राज्यक्रान्ति हुई, जिससे तत्कालीन योरोप में एक नवीन विचारधारा प्रबल वेग से बहने लगी। योरोप के समीप होने से मिस्र भी उससे प्रभावित हुआ, और शिक्षित मिस्रवासियों के मस्तिष्क में भी प्रजातंत्र की भावना उदय हुई। क्रान्ति के फल-स्वरूप फ्रांस में जो राजनैतिक उलट-फेर हुए, उनके द्वारा बिजली की कौंद के समान वीरवर नैपोलियन बोनापार्ट योरोप के राजनैतिक क्षितिज पर उदय हुआ। इससे ब्रिटेन शंकित हो उठा, और वह नैपोलियन की शक्ति को नष्ट कर देने का प्रयत्न करने लगा।

चतुर नैपोलियन यह भली भांति जानता था कि इङ्गलैंड की शक्ति का श्रोत उसके पूर्वीय देश हैं, अतएव योरोप के झगड़ों से छुट्टी मिलते ही उसने अपनी दृष्टि पूर्व की ओर दौड़ाई। भारतवर्ष पर आक्रमण करने के लिए मिस्र को अपना सामरिक आधार केन्द्र बनाना आवश्यक था। अस्तु, सन् १७६८ में नैपोलियन अपनी वीरवाहिनी लेकर, मिस्र में उतरा। एशिया में

साम्राज्य स्थापित करने के लिए उसने जो मानचित्र बनाया था, उसमें मिस्र पहला सेना शिविर था; स्वेज़ नहर निकालने की बात भी उसके मस्तिष्क में घूम रही थी।

योरोप की राजनैतिक परिस्थिति का विचार करते हुए, नैपोलियन ने टर्की सुलतान से, दिखाने के लिए मैत्री करली। मिस्र उस समय टर्की सुल्तान के अधीन देश समझा जाता था। सन् १५१७ में उस समय के सब से प्रबल शासक दुर्दमनीय उसमनाली-सुल्तान-सलीम-प्रथम ने मिस्र को विजय कर लिया; तब से टर्की सुल्तान का एक प्रतिनिधि मिस्र का शासन करता था। अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्त में मिस्र की वीर मैमुलिक जाति ने टर्की सुल्तान की अधीनता को अस्वीकार कर दिया, उनका विद्रोह सफल हुआ, क्योंकि टर्की सुल्तान की शक्ति क्षीण हो चुकी थी; उनके नेता अली-बे ने टर्किश-पाशा को मिस्र से मार भगाया, और १७७१ में उसने सीरिया पर आक्रमण करके उसे भी सुल्तान से छीन लिया। चतुर नैपोलियन ने अपने मित्र टर्की सुल्तान के प्रभुत्व को मिस्र पर फिर से जमाने के बहाने, अपनी सेना को मिस्र में उतार दिया। परन्तु शीघ्र ही अन्य राष्ट्रों को यह ज्ञात हो गया कि उसका आन्तरिक उद्देश्य मिस्र को हड़प जाना है।

अंग्रेज नेपोलियन जैसे भयङ्कर शत्रु को मिस्र में अपना सामरिक केन्द्र बनाते देखकर भयभीत हो उठे। उन्होंने टर्की

सुल्तान को सहायता का आश्वासन देकर नैपोलियन के विरुद्ध खड़ा कर दिया। टर्की ने नैपोलियन की सेना पर आक्रमण कर दिया, और अंग्रेज़ों ने टर्की सुल्तान की सहायता की। फ्रांस और इङ्गलैंड की इस पारस्परिक ईर्षा के कारण उस समय मिस्र फ्रांस का संरक्षित राज्य बनने से बच गया। इसी पारस्परिक विद्वेष के कारण अस्सी वर्ष तक मिस्र अपनी स्वतंत्रता को बचाये रख सका।

नैपोलियन योरोप के राजनैतिक झगड़ों के कारण शीघ्र ही मिस्र से लौट गया। किन्तु उसने जनरल क्लैबर को सेना सहित वहां ही छोड़ दिया। जब जनरल क्लैबर एक मिस्री देश-भक्त के द्वारा मार डाला गया, तब जनरल मिनाऊ फ्रांसीसी सेना का सेनापति नियुक्त हुआ। जनरल मिनाऊ ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर एक मिस्री सुन्दरी से विवाह कर लिया। इस कारण स्वभावतः उसे मिस्र के साथ सहानुभूति थी। उसने क्रमशः मिस्र के शासन में सुधार करने की चेष्टा की, परन्तु उसी समय फ्रांसीसी सरकार ने मिस्र को अपना संरक्षित राज्य घोषित कर दिया। सारा मिस्र इससे क्षुब्ध हो उठा। अवसर अनुकूल देखकर अंग्रेज़ों ने, मिस्र का पक्ष लेकर, फ्रांस की सेना पर आक्रमण कर दिया। युद्ध हुआ, और फ्रांसीसी सेना परास्त हुई। आरम्भ में अंग्रेज़ों ने यही घोषित किया था कि फ्रांसीसी सेना को मिस्र से खदेड़ कर हम भी चले जावेंगे। परन्तु मिस्र-वासियों ने देखा कि मिस्र को स्वतंत्र बनाने की बात केवल एक

राजनैतिक चाल थी। अंग्रेज़ मिस्र में अब स्थायी रूप से जम गये। ऐसा प्रतीत होने लगा कि इस देश की स्वतंत्रता सर्वदा के लिए लुप्त होने वाली है।

ऐसे समय पर जब कि सारा मिस्र राष्ट्र हताश सा हो रहा था, वीरवर मुहम्मद अली ने अपने वीर सैनिकों को इकट्ठा किया, और सन् १८०७ में अंग्रेज़ी सेना से भिड़ गया। इस युद्ध में मुहम्मदअली ने अंग्रेज़ी सेना को बुरी तरह परास्त किया; पूर्व में अंग्रेज़ों को ऐसी अपमान-जनक पराजय कभी नहीं मिली। अंग्रेज़ों को भयभीत करने तथा अपनी शक्ति का परिचय देने के लिए मुहम्मद अली ने साढ़े चारसौ अंग्रेज़ सैनिकों के कटे हुए सिर कैरो नगर के परकोटे पर रखवा कर उनका प्रदर्शन किया। मिस्र की स्वतंत्रता बच गई और उसे एक प्रबल शासक प्राप्त हो गया।

फ्रांसीसी सेना मिस्र में केवल पांच वर्ष ही रही थी, तथापि उससे वहां फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति के आधार—स्वतंत्रता, तथा समानता के सिद्धान्तों का प्रचार हो गया। फ्रैंच अधिकारियों ने वहां प्रतिनिधि-संस्थाओं को जन्म दिया। फ्रैंच विद्वानों ने जो नैपोलियन के साथ मिस्र में आये थे, प्राचीन स्थानों को खुदवा कर मिस्र की प्राचीन सभ्यता, कला-कौशल तथा गौरव पुनः मिस्रवासियों के सामने रखना आरम्भ कर दिया। मिस्रवासी मानों जाग पड़े; उनका अतीत कितना शानदार था,

यह उन्हें मालूम होगया। इस भावना ने उनमें राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न करदी।

मुहम्मद अली के हाथ में मिश्र का शासन-सूत्र आते ही मिस्र में शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित हो गई। वह एक साधारण सैनिक से बढ़ते-बढ़ते मिस्र का शासक बन गया था। मुहम्मद अली में अशिक्षित होते हुए भी जन्मतः नेता के सारे गुण उपस्थित थे। उसने मैमुलिक जाति की शक्ति को सर्वदा के लिए नष्ट कर दिया, क्योंकि वे लोग केन्द्रीय शक्ति की अवहेलना करते थे। उसने मिस्र की स्थल और जल सेना का संगठन, एवम् नव-निर्माण किया। शासन-व्यवस्था तथा सेना का सुधार करने के पूर्व मुहम्मद अली को मैमुलिक जाति से टक्कर लेनी पड़ी थी किन्तु वह अपनी वीरता, दृढ़ता तथा साहस के कारण उनका दमन करने में सफल हुआ।

देश की शासन-व्यवस्था को दृढ़ करने के उपरान्त, मुहम्मद अली ने देश की आर्थिक अवस्था के सुधार की ओर ध्यान दिया। फैलेहीन (किसान) को गिरी हुई दशा से ऊपर उठाने के लिए उसने भूमि सम्बन्धी क़ानूनों में सुधार किये। सिंचाई के लिए नहर तथा बांध बनवाये, कपास की खेती की उन्नति की, तथा अलक्षेंद्रिया का सुन्दर बन्दरगाह बनवाया। अशिक्षित होते हुए भी उसने शिक्षा का खूब प्रचार किया, स्कूल और कालेज स्थापित किये और मिस्री युवकों को विदेशों

में अध्ययन करने के लिए भेजा। सत्य तो यह है कि आधुनिक मिस्र का जनक मुहम्मद अली है। सफल शासक होने के अतिरिक्त, वह एक सफल सेनापति भी था; उसने सुदान को विजय करके मिस्र में मिला लिया।

इसी समय मुहम्मद अली को एक ऐसा अवसर मिला कि उसकी, अरब में मिस्र साम्राज्य स्थापित करने की, इच्छा बलवती हो उठी, और वह और वह अपनी वीरवाहनी लेकर अरब जा पहुंचा।

अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में अरब के नज्द नामक स्थान में वहाबी आन्दोलन के प्रवर्तक मुहम्मद इब्न-अब्दुल-बहाब का जन्म हुआ। उसने देखा कि इस्लाम में बहुतसा आडम्बर, मिथ्याचार, पाखंड तथा कुरान-विरोधी बातें प्रचलित हो गई हैं। उसने इनका घोर विरोध किया और लोगों को कुरान तथा सुन्ना की शिक्षा पर पूर्णतः चलने का आदेश दिया। उसने मस्जिदों को सजाने, और फ़क़ीरों को पूजने की प्रथा उठा दी। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इस्लाम में जो बातें ईरानी, तथा तुर्की सम्पर्क से आ गई थीं, उनको हटा कर उसने शुद्ध कुरान का धर्म स्थापित करने का प्रयत्न किया।

इब्न-अब्दुल-बहाब ने दरिया के शेख़ मुहम्मद इब्न सऊद को अपना अनुयायी बनाया। इब्न-सऊद नवीन धर्म में

दीक्षित होकर अपने पुत्र की सहायता से इस धर्म के नाम पर अरबों का संगठन करने लगा। देखते-देखते मध्य अरेबिया में वहाबियों का आश्चर्यजनक सङ्गठन हो गया। टर्की सुल्तान इस नवीन आन्दोलन से चौकन्ना हुआ और उसने एक सेना वहाबियों को नष्ट करने के लिए भेजी, जिसे वहाबियों ने मार भगाया। अब वहाबियों ने इस्लाम के पवित्र स्थानों पर आक्रमण करना आरम्भ किया। १८०१ में वहाबियों ने शियों के प्रसिद्ध स्थान कर्बला पर अधिकार करलिया, वहां का खजाना लूट लिया, और पवित्र स्थान को नष्ट कर दिया। दूसरे वर्ष मक्का पर भी उनका अधिकार हो गया। फक़ीरों के मकबरे तथा अन्य पवित्र वस्तुएं नष्ट करदी गईं और वहां की प्रचलित रीतियां बंद करदी गईं। सन् १८०४ में मदीना ले लिया गया, और मुहम्मद की समाधि पर खड़ा हुआ स्मारक नष्ट कर दिया गया।

सारा मुस्लिम संसार वहाबियों के इस कार्य से क्षुब्ध हो उठा था। पवित्र स्थानों की रक्षा का भार खलीफा पर था, अतएव टर्की सुल्तान ने मिस्र के पाशा वीरवर मुहम्मद अली को वहा-बियों को दमन करने की आज्ञा दी। सन् १८११ में मुहम्मद अली का पुत्र इब्राहीम अपनी सेना सहित हैजाज़ में उतरा और सात वर्षों के लगातार युद्ध के उपरान्त उसकी विजय हुई। प्रथम वहाबी आन्दोलन का अन्त हुआ। इब्राहीम ने देखा कि टर्की सुल्तान की शक्ति क्षीण हो चुकी है, पश्चिम एशिया में मिस्र साम्राज्य स्थापित करने का यह अच्छा अवसर है। मुहम्मद

अली भी सेना लेकर आ पहुंचा और सीरिया तथा एशिया मायनर विजय कर लिया। कांस्टैंटिनोपिल का रास्ता साफ़ था, टर्की के मुसलमान भी मुहम्मद अली के पक्ष में थे। सन् १८३६ में टर्की सुल्तान ने मुहम्मद अली की सेना पर, सीरिया के छीन लेने के अभिप्राय से, आक्रमण किया; किन्तु वह पराजित हुआ। इङ्गलैंड और रूस एशिया में ऐसा प्रबल साम्राज्य स्थापित होने देना अपने लिए खतरनाक समझते थे, इस कारण उन्होंने मुहम्मद अली को दबाया; उसे विवश होकर मिस्र को लौटना, और टर्की सुल्तान की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी।

मुहम्मद अली के शासन-काल में मिस्र की आश्चर्यजनक उन्नति हुई। उसके उत्तराधिकारी सैयद के शासन-काल में मिस्र समृद्धिशाली रहा। किसानों की दशा अच्छी थी, रेलों और नहरों की वृद्धि होती रही, किन्तु सैयद के उत्तराधिकारी इस्माइल के शासन में यह सब कुछ बदल गया। चाटुकार दरबारियों ने अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए इस्माइल को पतन के रास्ते पर डाल दिया। वह महलों में, रंगरेलियों में मस्त रहने लगा। धन पानी की तरह बहाया जाने लगा। ख़ज़ाना खाली हो गया, कर बढ़ाये गये। किसानों (फैलेहीन) की आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई, देश निर्धन हो गया। फिर भी इस्माइल की तृप्ति न हुई और उसने विदेशों से ऋण लिया। योरोप के

साम्राज्यवादी देशों से ऋण लेने का फल यह हुआ कि मिस्र को अपनी स्वाधीनता से हाथ धोना पड़ा। इङ्गलैंड के चतुर प्रधान मन्त्री डिसरेली ने इस्माइल के आर्थिक सङ्कट से लाभ उठा कर, चालीस लाख पौंड में उसके स्वेज नहर के हिस्से खरीद लिए। किन्तु मिस्र सरकार की आर्थिक दशा बिगड़ती ही गई। मिस्र मुख्यतः फ्रांस तथा इंगलैंड का ऋणी था। अस्तु, उन दोनों शक्तियों ने एक के बाद दूसरा कमीशन, मिस्र की जांच करने के लिए, भेजना आरम्भ कर दिया। जैसे जैसे इस्माइल अधिक ऋण लेता गया, वैसे ही वैसे इन महाजनों ने उसे अधिकाधिक दबाना शुरू किया। अन्त में मिस्र के अर्थ-विभाग पर फ्रांस और इंगलैंड का अधिकार हो गया। उन्होंने इस्माइल को सिंहासन से इस बहाने उतार दिया कि राज्य की आर्थिक स्थिति और भी खराब हो जाने से हमारे ऋण की अदायगी कठिन हो जावेगी।

इस्माइल का पुत्र त्यूफिक मिस्र के सिंहासन पर बैठा और मेनेजर ऐवीलीन-बैरिंग अंग्रेजी फ़ायनैंशियल कमिश्नर नियुक्त हुआ। अंग्रेज अर्थ-सचिव शासन के प्रत्येक विभाग में हस्तक्षेप करने लगा। मिस्रवासियों ने दुखी होकर देखा कि मिस्र की स्वतंत्रता सर्वदा के लिए नष्ट हो गई।

किसान (फलेहीन) वर्ग देश के इस पतन पर अत्यन्त क्षुब्ध हो उठा और अरबी पाशा के नेतृत्व में उन्होंने मिस्र की

स्वतंत्रता के लिए विद्रोह कर दिया। मिस्र के शासन में वहां के निवासियों का हाथ बिलकुल नहीं था। शासन तथा सेना तुर्क और सिरकेशियन उच्चवर्ग के हाथ में थी। उन्हीं लोगों के कुशासन के कारण मिस्र को वह दिन देखना पड़ा था, इस लिए वहां के किसानों में उनके प्रति भी घृणा के भाव भर गये थे।

विद्रोह के होते ही इंगलैंड के पत्रों तथा राजनीतिज्ञों ने चिल्लाना आरम्भ किया कि यह विद्रोह योरोपियन जातियों के विरुद्ध है, विद्रोहियों की सेना में लुटेरे सैनिक हैं, और शासन को पंगु बना देने के इच्छुक थोड़े से कठमुल्ले उनके नेता हैं। जब जब पूर्व के देशों में स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए विद्रोह होता है, तब तब साम्राज्यवादी देश उसे लूट-मार कह कर, संसार की दृष्टि में, नेताओं को नीचा गिराने का प्रयत्न करते हैं।

यदि देखा जावे तो मुस्लिम संसार में अपूर्व जागृति का संचार करने वाला व्यक्ति जमाल-उद्दीन-अफ़गानी ही मिस्र में राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न करने वालों में प्रथम था। जमाल-उद्दीन-अफ़गानी जहां जहां गया, वहां वहां उसने राष्ट्रीय जागृति का श्रोत बहाया। मिस्र और ईरान में राष्ट्रीय चैतन्यता के उत्पन्न करने में उसका बहुत हाथ रहा है। इन दोनों देशों में आगे चलकर जो क्रान्ति हुई, उसका जन्म देने वाला जमाल-उद्दीन ही था। क़ैरो के संसार-प्रसिद्ध मुस्लिम विश्व विद्यालय

अल-अजहर में जब वह प्रोफेसर नियुक्त होकर आया तो उसने उस कट्टर शिक्षा-केन्द्र में नवीन विचार धारा प्रवाहित करना आरम्भ कर दिया। मुहम्मद-अबदू जो आगे चलकर मिस्र का ग्रांड मुफ्ती हुआ, और जिसने मिस्र में जागृति लाने का प्रबल प्रयत्न किया, सीरिया का राष्ट्रीय कवि अदिब-इशहार जिसने सीरिया में क्रान्ति फैलाई, और अरबी-पाशा ये तीनों जमाल-उद्दीन के ही मुख्य शिष्यों में से थे।

जमाल-उद्दीन का जन्म अफ़गानिस्तान में सन् १८३८ में हुआ, और उसकी शिक्षा बुखारे में हुई। शिक्षा समाप्त कर के सन् १८५७ में वह अपनी मातृभूमि को लौट आया और उसने अमीर की नौकरी करली। वह अत्यन्त मेधावी पुरुष था और एशिया के समस्त देशों में भ्रमण करके उसने वहां की राजनैतिक परिस्थिति का अध्ययन किया था। सन् १८६६ में एक बार फिर उसने एशियाई राष्ट्रों का भ्रमण किया और कांस्टैंटिनोपिल पहुंचा। वहां के अंजुमने-इल्म विश्वविद्यालय में वह प्रोफेसर नियुक्त हुआ। अंजुमने-इल्म में, उसके विद्वतापूर्ण व्याख्यानों से उसकी योग्यता की धूम मच गई। इस्लाम के धार्मिक साहित्य का उसने गंभीर अध्ययन किया था, वह कुरान की भिन्न-भिन्न टीकाओं की स्वतंत्रता पूर्वक आलोचना करता था। जमाल-उद्दीन जैसे स्वतंत्र विचार के विद्वान से, भला कठमुल्लों की कैसे बन सकती थी! एक व्याख्यान के विषय में उसका शेख-उल-इस्लाम से मतभेद हो गया और उसे कांस्टैंटिनोपिल छोड़ना

पड़ा। तदुपरान्त वह अल-अज़हर विश्वविद्यालय में नियुक्त हुआ। आठ वर्ष तक इस विश्व-विद्यालय में रहकर वह मिस्र के युवकों में राष्ट्रीय भावना भरता रहा। वहां रहकर वह इस भावना का भी प्रचार करता रहा कि एशियाई देशों को अब सम्हल जाना चाहिए, नहीं तो योरोप के साम्राज्यवादी देश उनको हड़प लेंगे। वह अपने भाषणों में स्वेच्छाचारी शासन का विरोध करता, और कहता कि इस्लाम जनतंत्र का समर्थक है। मिस्र सन् १८७६ में फ्रांस और इङ्गलैंड के आर्थिक जाल में फँस गया तो इन दोनों शक्तियों ने मिस्र के नाम-मात्र के पाशा त्यूफिक को विवश किया कि वह जमाल-उद्दीन को देश से निकाल बाहर करे। साम्राज्यवादी देशों के दबाव के कारण जमाल-उद्दीन को मिस्र छोड़ना पड़ा।

अल-अज़हर विश्व विद्यालय से जिस आन्दोलन का सूत्र-पात हुआ, वह वास्तव में इस्लाम के सुधार का आन्दोलन था। परन्तु अरबी पाशा द्वारा खड़ा किया गया किसान राष्ट्रीय आन्दोलन भी उसका एक अंग था। मिस्रवासी देख रहे थे कि हमारे देश पर भी ट्यूनिस की ही भांति दासता का जाल डाला जा रहा है। कुछ वर्षों पूर्व फ्रांस ने ट्यूनिस पर इस बहाने अधिकार कर लिया था कि वह वहां के शासक बे की प्रजा के विद्रोह से रक्षा करना चाहता है। बाद को ट्यूनिस फ्रांस का अधीन राज्य घोषित कर दिया गया। मिस्रवासी इस उदाहरण से सचेत हो चुके थे,

और उन्होंने मिस्र की स्वतंत्रता को न जाने देने का दृढ़ निश्चय कर लिया ।

नये क्तैदिव त्यूफिक ने गद्दी पर बैठते ही अपने प्रधान मंत्री शरीफ़ पाशा की सलाह से कुछ शासन-सुधार करने के लिए नवीन शासन विधान की घोषणा करनी चाही, किन्तु इङ्गलैंड और फ्रांस ने यह घोषणा नहीं करने दी। जब एसैम्बली की बैठक हुई तब फिर प्रधान मंत्री ने नवीन शासन विधान का मसविदा तैयार किया, किन्तु विदेशी शक्तियों ने फिर उसका विरोध किया। उन्होंने शरीफ़ पाशा को यहां तक विवश कर दिया कि वह एसैम्बली के, वजट पर वाद-विवाद करने, तथा वोट देने के अधिकार छीन ले। एसैम्बली केवल आधे वजट पर ही वोट देने तथा विवाद करने का प्रतिबन्ध स्वीकार करने को तैयार थी। देश की आधी आय जो राष्ट्रीय ऋण चुकाने तथा सूद देने के लिए थी उस पर वोट देने का अधिकार छोड़ने के लिए वह तैयार थी, किन्तु विदेशी शक्तियों के प्रतिनिधियों ने यह स्वीकार न किया।

विदेशियों द्वारा देश के आन्तरिक मामलों में इस प्रकार हस्तक्षेप होते देखकर सारा मिस्र राष्ट्र क्षुब्ध हो उठा, और विदेशियों के विरुद्ध आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। इस आन्दोलन का नेता अरबी पाशा था। वह एक किसान का पुत्र था, अल-अज़हर विश्व-विद्यालय में अध्ययन करने के कारण उसमें

राष्ट्रीयता के भाव जागृत हो चुके थे। यद्यपि वह कोई अच्छा सैनिक और प्रबन्ध-पटु नहीं था, परन्तु उसकी भाषण-शक्ति अपूर्व थी। जब वह बोलता, श्रोता मंत्र-मुग्ध हो जाते, उसके भाषणों से देश में अपूर्व जागृति उत्पन्न हो गई। उसने मिस्र के किसानों को समझाया कि किस प्रकार देश विदेशियों की दासत्व-श्रृंखलाओं में जकड़ता जा रहा है। उसने सर्व प्रथम "मिस्र, मिस्र वालों के लिए है" इस आवाज़ को उठाया, और केवल तुर्की तथा सिरकैशियन जाति के लोगों को ही उच्च पद देने का विरोध किया। उसने कहा कि भविष्य में अपने देश में ही मिस्र वाले लकड़ी चीरने वाले तथा पानी भरने वाले बनकर नहीं रह सकते।

६ जनवरी सन् १८८२ को इङ्गलैंड और फ्रांस ने मिस्र सरकार को एक सम्मिलित नोट दिया। उस नोट की भाषा अत्यन्त अपमानजनक थी। उसका आशय यह था कि भविष्य में इङ्गलैंड और फ्रांस जब भी और जैसे भी उचित समझेंगे मिस्र के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप करेंगे। इस नोट के प्रकाशित होते ही विदेशियों के विरुद्ध देश भर में तीव्र घृणा की ऐसी लहर फैलगई कि सारे विरोधी दल एक हो गए। एसैम्बली बजट पर वाद-विवाद करने तथा वोट देने की बात पर दृढ़ता-पूर्वक अड़ गई। उस समय देश में यहां तक एकता स्थापित हो गई कि तुर्कों के एक समुदाय ने भी अरबी पाशा के नेतृत्व में देश की रक्षा करने का निश्चय कर लिया। २ फर्वरी सन् १८८५ को शैरिफ़ पाशा ने

प्रधान मंत्री के पद से त्याग-पत्र दे दिया और मुहम्मद पाशा सामी ने राष्ट्रीय मंत्री-मंडल का सङ्गठन किया। अरबी पाशा युद्ध-सचिव बनाया गया।

इङ्गलैंड के पत्र अरबीपाशा के सम्बन्ध में अत्यन्त भ्रमपूर्ण बातें फैला रहे थे। वहां समाचार पत्रों ने यह धारणा उत्पन्न की, कि जनता अरबीपाशा के साथ नहीं है, कैदिव से प्रजा प्रसन्न है, और थोड़े से प्रयत्न से भयानक कठमुल्ला अरबीपाशा मिस्र से निकाला जा सकता है। यद्यपि अन्य योरोपीय देश मिस्र के स्वाधीनता-संग्राम को सहानुभूति की दृष्टि से देखते थे, और इटली के वीरवर मैनोटी-गैरीबाल्डी एक स्वयं-सेवक दल लेकर मिस्र की सहायता के लिए आना भी चाहते थे, किन्तु इन दो प्रबल साम्राज्यवादी देशों का सक्रिय विरोध किसी ने नहीं किया। बात यह है कि श्वेतांग देश कभी भी एक पूर्वीय देश के लिए आपस में मनमुटाव करना पसन्द नहीं करते, क्योंकि आगे पीछे दूसरों को भी तो यही करना है।

मई मास में इंगलैंड और फ्रांस ने अलक्षेन्द्रिया के बंदरगाह में अपने जहाज़ी बेड़े भेज दिये। दोनों राष्ट्रों ने मिस्र सरकार से वर्तमान मंत्री-मंडल तोड़ देने, तथा अरबीपाशा को देश निकाला देने की मांग की। देश को शत्रुओं से घिरा देखकर तथा अपनी निर्बलता का ध्यान करके राष्ट्रीय मंत्रीमण्डल ने त्यागपत्र दे दिया। नवीन मंत्री-मण्डल बना किन्तु अरबीपाशा को उसमें स्थान नहीं

दिया गया। मिस्र अरबीपाशा पर जी-जान से निछावर था, वह राष्ट्रीय वीर था, भला मिस्रवासियों को यह कैसे सहन होता कि उनका सर्वमान्य नेता मंत्री-मण्डल में न रहे। कैरो में विद्रोह हुआ, और सरकार को विवश होकर अरबीपाशा को युद्ध सचिव नियुक्त करना पड़ा।

उस समय क़ैदिव त्यूफिक की स्थिति अत्यन्त डांवाडोल थी। एक ओर तो देश विदेशियों के हाथ में जाता दिखलाई देता था दूसरी ओर राष्ट्रीय आन्दोलन के सफल होने पर उसके स्वेच्छाचारी शासन का अन्त अवश्यम्भावी था। अतएव अभागा त्यूफिक देश के प्रति विश्वासघात करके प्रकट रूप में अंग्रेज़ों के पक्ष में चला गया।

अंग्रेज़ी जहाज़ी बेड़े के कमांडर ने मिस्रवासियों को यह चेतावनी दी कि वे अलक्षेन्द्रिया बंदरगाह की किलेबंदी न करें। भला मिस्रवासी इस अपमान-जनक बात को क्योंकर स्वीकार करते! बंदरगाह की किलेबंदी होने लगी। इसी बात को लेकर अंग्रेज़ी सेना ने अलक्षेन्द्रिया पर गोले बरसाना आरम्भ कर दिया। इन साम्राज्यवादी देशों का यह नियम रहा है कि पहले तो किसी निर्बल राष्ट्र से सम्पर्क स्थापित करना और अपना कुछ आर्थिक स्वार्थ उत्पन्न कर लेना, तदुपरान्त उस देश के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करना, विरोध किये जाने पर बहाना ढूँढ़ कर उस पर आक्रमण करना, और अन्त में उसे हड़प कर जाना।

अंग्रेजों के इस आक्रमण के कारण सारा देश क्रोध से उन्मत्त हो गया। अल-अजहर विश्व-विद्यालय के उलमाओं ने एक फ़तवा निकाल कर यह घोषणा कर दी कि क्षैदिव ने देश के प्रति विश्वासघात किया है, और वह मिस्र को विदेशियों के हाथ बेच देने को तैयार है अतः उसे सिंहासन से उतार देना चाहिए। चौदह प्रान्तों के गवर्नरों में से ग्यारह ने अरबीपाशा के नेतृत्व में देश की रक्षा के कार्य में सहायता देने की घोषणा की। कैरो में एक रक्षा-समिति बुलाई गई, जिसने शासन अपने हाथ में लिया और अरबीपाशा को प्रधान सेनापति नियुक्त कर दिया।

मिस्र के लिए जीवन और मरण का समय उपस्थित हो गया था। ऐसे समय में देश को एक सफल सेनापति की आवश्यकता थी। अभाग्यवश अरबीपाशा में वह गुण नहीं थे। मिस्र की सेना में अधिकांश उच्च अधिकारी तुर्क थे, वे ही रणनीति को समझते थे। चाहिए तो यह था कि अरबी पाशा उनके परामर्श से युद्ध करता परन्तु अरबी पाशा तुर्क सेनापतियों का विश्वास न कर सका। पूर्वीय देशों के पुराने रोग ईर्षा द्वेष ने मिस्र के इस स्वातंत्र्य-युद्ध को असफल बना दिया। पूर्व में व्यक्तियों की पूजा सर्वदा से होती चली आरही है, और इसके कारण पूर्वीय देशों का भयानक राजनैतिक पतन हुआ है। मिस्र के कतिपय नामधारी नेता एक दूसरे से द्वेष करते थे, वे देश के प्रति सच्चे नहीं थे; किसी एक को अधिक यश प्राप्त हो जावे यह उन्हें सह्य नहीं था। चतुर विदेशियों ने ऐसे सब नेताओं को धन

अथवा उच्च पद का लालच देकर मोल ले लिया। इससे राष्ट्रवादियों की शक्ति कम हो गई। अंग्रेजों ने अरबी पाशा की शक्ति नष्ट करने की एक युक्ति और भी ढूँढ निकाली। टर्की का निर्बल सुल्तान उस समय अंग्रेजों के हाथ की कठपुतली बना हुआ था, उसको दबाकर अंग्रेजों ने उससे यह घोषणा करवा दी कि अरबी पाशा सुल्तान तथा खलीफा का विद्रोही है। यद्यपि अरबी पाशा खलीफा की सार्वभौम सत्ता को मिस्र में सुरक्षित रखने के पक्ष में था, फिर भी खलीफा की इस घोषणा का उसकी सेना पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। धर्मभीरु सैनिक विचलित हो गए, पहले जैसा जोश, और अरबी पाशा में विश्वास शिथिल हो गया। धर्म का जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्राधान्य, और धर्माचार्यों में अंध-भक्ति, पूर्वीय देशों का दूसरा भंयकर रोग है, जिसके कारण पूर्व पददलित हो रहा है।

अपने विरुद्ध इतनी शक्तियों को देखकर भी वीर अरबी पाशा हताश नहीं हुआ और वह अंग्रेजी सेना से भिड़ गया, परन्तु विजयश्री अंग्रेजों को ही प्राप्त हुई। १३ सितम्बर १८८२ को तैल-यल-कैबिर के युद्ध में मिस्र की सेना परास्त हो गई और यह देश सदा के लिए दास बन गया। देश-भक्त अरबी पाशा विद्रोही घोषित किया गया, विश्वासघाती कैदिव फिर सिंहासन पर बिठलाया, गया, तथा विश्वासघाती तुर्की सरदारों को उच्च पद दिये गये। कैदिव अरबी पाशा को मृत्यु-दंड देना

चाहता था, किन्तु अंग्रेजों ने हस्तक्षेप किया और वह लंका भेज दिया गया।

अरबी पाशा को पराजित होकर देश से निर्वासित होना पड़ा, इस लिए बहुत से लेखक तथा मिस्रवासी उसकी महत्ता को अस्वीकार करते हैं। प्रत्येक राष्ट्र को स्वतंत्रता देवी के मंदिर की सीढ़ियां एक एक करके चढ़नी पड़ती हैं, और उसके लिए यथेष्ट बलिदान भी करना पड़ता है। अरबी पाशा की असफलता से उसके कार्य का महत्त्व घटता नहीं है। यह सीढ़ी तो मिस्र को प्रत्येक दशा में पार करनी ही पड़ती। इस आन्दोलन के पूर्व मिस्रवासियों में राष्ट्रीय भावना तथा आत्म-सम्मान का नाम भी नहीं था। मिस्री के नाम से असभ्य अशिक्षित किसान का बोध होता था। यहां तक कि स्वयं मिस्र वासी भी इस नाम को इसी अर्थ में स्वीकार करते थे। सर्व प्रथम अरबी पाशा ने ही राष्ट्र को आत्म-सम्मान तथा अपने अतीत गौरव के प्रति श्रद्धा का भाव रखना सिखलाया। जहां अब तक एक जनसमूह निवास करता था, वहां अरबी पाशा ने एक जाति को जन्म दिया। क्या उसका यह कार्य कुछ कम महत्त्वपूर्ण है?

मिस्र की राज्यश्री विदेशियों के चरणों पर लोट रही थी। अंग्रेजों ने यह घोषणा की कि हम मिस्र पर थोड़े ही दिनों के लिए अधिकार कर रहे हैं। जैसे ही मिस्र वासी आधुनिक राज-नैतिक संस्थाओं को सफलता-पूर्वक चलाने के योग्य हो जावेंगे,

हम हट जावेंगे। मिस्र में नवीन शासन व्यवस्था का सूत्रपात करने के लिए लार्ड डफरिन भेजे गये और एक नवीन शासन विधान तैयार किया गया। उस विधान के अनुसार ३० सदस्यों की एक लैजिस्लेटिव कौंसिल बनाई गई, जिसमें १४ मनोनीत सदस्य रक्खे गये। कौंसिल का केवल इतना ही अधिकार था कि वह सरकार द्वारा भेजे हुए बिलों की आलोचना करे; वह स्वयं किसी प्रस्ताव पर विचार नहीं कर सकती थी। कौंसिल के मत को मानने के लिए सरकार बाध्य नहीं थी। कौंसिल के ३० सदस्य और ६ मंत्रियों की, तथा ४६ अन्य सदस्यों की एक एसेम्बली भी बनाई गई, जिसका अधिवेशन वर्ष में केवल एक बार हो सकता था। बिना एसैम्बली के कोई नवीन प्रत्यक्ष कर नहीं लगाया जा सकता था। कैदिव के पुराने अधिकारों को भी छीन लिया गया। वस्तुतः इस नवीन शासन विधान के कारण सारा अधिकार इङ्गलैंड के प्रतिनिधि के हाथ में आगया। कैदिव के अधिकारों की रक्षा का बहाना लेकर ही हस्तक्षेप किया गया था, किन्तु उसको भी पुराने अधिकार नहीं दिये गये।

क़ैदिव की सत्ता नाम-मात्र को रह गई, और मंत्रियों के हाथ में तो कोई अधिकार ही नहीं था। प्रत्येक मंत्री के साथ एक अंग्रेज सलाहकार रक्खा गया जो वास्तव में मंत्री का कार्य करता था। जितने भी सिविल सर्विस में उच्च पद थे, उन पर अंग्रेज नियुक्त कर दिये गये। सन् १८८४ में लार्ड गैन्विली ने मिस्र के संबंध में एक वक्तव्य देते हुए कहा कि मिस्र के

मंत्रियों तथा गवर्नरों को यह ज्ञात होना चाहिए कि मिस्र के शासन का उत्तरदायित्व इस समय इङ्गलैंड पर आ पड़ा है; अतएव जो मंत्री तथा गवर्नर सम्राज्ञी की सरकार की नीति को स्वीकार नहीं करेंगे, उन्हें अपना पद त्याग देना होगा।

अंग्रेजी शासन के मिस्र में दृढ़ता-पूर्वक जमजाने से वहां शान्ति स्थापित हो गई, किन्तु वह मृत्यु की शान्ति थी। पिछले कैदिवों के कुशासन के कारण किसानों की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई थी, और देश पर भयंकर ऋण हो गया था। अंग्रेजी शासन के कारण देश की आर्थिक दशा में थोड़ा सुधार हुआ, और नवीन क़ानूनों से किसानों को लाभ हुआ तो वे अंग्रेजों को अपना रक्षक समझने लगे। अत्याचार से पीड़ित किसानों ने अंग्रेजों का स्वागत किया, और अंग्रेजों ने अपने को किसानों का मित्र घोपित किया। उस समय ऐसा प्रतीत हो रहा था कि मानों अंग्रेजों का मिस्र में कोई विरोध ही नहीं है। अग्नि की बाहर दिखने वाली लपटें नहीं थीं, किन्तु राष्ट्र के अन्तर में अग्नि सुलग रही थी।

सन् १८६२ में त्यूफिक पाशा की मृत्यु हो गई और अब्बास द्वितीय राज्य सिंहासन पर बैठा। नया कैदिव स्वाभिमानी युवक था। उसे नाम-मात्र का शासक होना अखर रहा था। कुछ उपाय न देखकर उसने क्रमशः राष्ट्र के युवकों को, जिनमें राष्ट्रीय चेतना जागृत हो चुकी थी, अपनी ओर आकर्षित करना

आरम्भ किया और वह अपने प्रयत्न में सफल भी हो गया। मिस्रवासियों की यह धारणा थी कि अंग्रेज़ी सेनाएं युद्ध समाप्त होने तथा शान्ति स्थापित हो जाने के उपरान्त वापिस लौट जावेंगी। अंग्रेज़ अधिकारियों ने बारबार यही घोषणा की थी। जब वे सेनाएं वापस न जाकर स्थायी रूप से मिस्र में ही डटी रहीं और अंग्रेज़ी नीति के प्रबल समर्थक सीरियन-ईसाई पत्र अल-मोकत्तम ने यह प्रकाशित किया कि भविष्य में राष्ट्रीय आन्दोलन को दबाने के लिए अंग्रेज़ी सेना की शक्ति को और भी बढ़ाया जावेगा, तो मिस्रवासियों के कान खड़े हुए।

इसी समय मिस्र के भावी राष्ट्रीय नेता का उदय हुआ। युवक मुस्तफ़ा कमाल उस समय फ़ांस में अध्ययन कर रहा था। सन् १८६५ में उसने फ्रांस से ही "मिस्र का ख़तरा" नामक पुस्तक प्रकाशित की। इस पुस्तक का मिस्र में अभूतपूर्व स्वागत हुआ, और अंग्रेज़ों के विरुद्ध अधिक क्षोभ उत्पन्न हुआ। मुस्तफ़ा कमाल में देश-प्रेम कूट कूट कर भरा हुआ था, उसका केवल एक ही धर्म था—देश को स्वतंत्र करना। सन् १८६६ में वह अपनी मातृभूमि को लौटा, उसी वर्ष अंग्रेज़ सुदान पर आक्रमण करके उसको विजय करने का निश्चय कर चुके थे। अंग्रेज़ों के दवाब तथा चालाकियों के कारण ही मिस्र को सुदान से हाथ धोना पड़ा, परन्तु अब इस देश का धन तथा मिस्रवासियों का ही रुधिर बहा कर पुनः उसको विजय करने की तैयारियां हो-रही थीं। सुदान-युद्ध बहुत दिनों तक चला, मिस्र का ख़ज़ाना

खाली हो गया, और उसके विजय हो जाने पर वहां का शासन व्यय भी मिस्र को ही सहन करना पड़ा। परन्तु उससे लाभ अंग्रेज़ों को हुआ। सिंचाई के साधन उपलब्ध करके मैंचेस्टर के कारख़ानों के लिए बढ़िया कपास उत्पन्न करने के अभिप्राय से सुदान को एक विशाल खेत बना डाला गया। भविष्य में उत्तम कपास न मिलने की आशंका के कारण अंग्रेज़ों को कपास उत्पन्न करने वाले प्रदेश की अत्यन्त आवश्यकता थी। इसके लिए सुदान से बढ़ कर दूसरा प्रदेश हो ही नहीं सकता था। इसी कारण सुदान पर भी साम्राज्यवाद का फ़ौलादी पंजा चल पड़ा। सुदान में नील नदी के पानी का नहरों द्वारा उपयोग में लाया जाना मिस्र के लिये भयंकर प्रमाणित हुआ। उनकी कपास की खेती गिरने लगी।

मुस्तफा कमाल ने जिस दिन मिस्र की भूमि पर पैर रक्खा, उसी दिन से वह इसका विरोध करने लगा। अलक्षेन्द्रिया में भाषण देते हुए उसने कहा था "हम चाहते हैं कि सुदान मिस्र का एक प्रान्त बनाया जावे, उसको फिर विजय करना आवश्यक है। मिस्र का सम्पूर्ण नील की घाटी पर आधिपत्य होना, उसके जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। बिना सुदान के मिस्र अत्यन्त निर्धन बन जावेगा, परन्तु हम अंग्रेज़ों की अधीनता में सुदान विजय कभी नहीं करना चाहते। यदि हमारी सेना अंग्रेज़ों की अधीनता में सुदान पर आक्रमण करेगी तो हमारे प्रति सुदानियों में सर्वदा के लिए घृणा के भाव उत्पन्न हो जावेंगे।"

मुस्तफ़ा कमाल ने आते ही राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व अपने हाथ में ले लिया। मिस्र के युवक उसके साथ हो गये और देश में फिर से नव चेतना आगयी। मुस्तफ़ा कमाल को मिस्र के स्वतंत्रता-आन्दोलन में फ्रांस से सहायता मिलने की बहुत कुछ आशा थी। पर साम्राज्यवादी देश सब एक-से हैं, अपने अपने शिकार हर एक दबोचे हुए बैठा है, फिर एक दूसरे की ओर अंगुली कैसे उठा सकता है, यह बात कमाल भूल गये थे। सन् १९०४ में जब फ्रांस ने अपने मरक्को के अधिकार के बदले, मिस्र में अंग्रेज़ों के अधिकार को स्वीकार कर लिया, तो कमाल और मिस्र के युवकों को अपनी भूल ज्ञात हुई। मिस्र के नवयुवकों पर फ्रांस के आदर्श का बहुत प्रभाव था। वहां फ्रैंच भाषा का प्राधान्य था, और मिस्री युवक फ्रांस में ही विद्याध्ययन के लिए जाते थे। अतएव वे आशा लगाये हुए थे कि उपयुक्त अवसर पर फ्रांस की सहायता मिल जावेगी। उस ओर से निराश होकर मुस्तफ़ा कमाल ने अपने देश में ही आन्दोलन करना आरम्भ किया। रेल, तार, तथा टेलीफ़ोन इत्यादि नवीन सुविधाओं के प्रदान करने का श्रेय, लोग अंग्रेज़ों को देते थे। एक भाषण में मुस्तफ़ा कमाल ने कहा "इन सुविधाओं से क्या लाभ, जब कि वे ही हमारी दासता की शृङ्खलाओं को दृढ़ कर रही हैं। मैं स्वतंत्र मिस्र में, हज़ारों मील रेगिस्तान में घोड़े की पीठ पर यात्रा करना, अंग्रेज़ों के अधीन देश में मोटर से यात्रा करने की अपेक्षा, कहीं अच्छा समझूंगा।"

१८९७ में कमाल ने अपने सम्पादकत्व में यल-लेवा नामक एक निर्भीक राष्ट्रीय पत्र निकाला और शिक्षा-विस्तार के लिए उसने एक राष्ट्रीय विद्यालय स्थापित किया। कमाल ने अपने पत्र के द्वारा निर्जीव राष्ट्र को एक बार हिला दिया। कमाल का पत्र राष्ट्र की आवाज़ बन गया, उसके अंग्रेज़ी तथा फ्रैंच संस्करण भी निकलने लगे।

मुस्तफ़ा कमाल चतुर राजनीतिज्ञ भी था। उसने मुस्लिम संसार की सहानुभूति प्राप्त करने के अभिप्राय से यह प्रचार करना आरम्भ किया कि यदि अंग्रेज़ों ने मिस्र पर पूरा आधिपत्य जमा लिया तो वे इसे अपना सैनिक आधार बना कर इसका उपयोग, हेजाज़ तथा सीरिया के पवित्र स्थानों पर अधिकार करने में, करेंगे। साथ ही उसने सुल्तान खलीफ़ा तथा पान-इस्लाम आन्दोलन का भी समर्थन, मुस्लिम संसार की सहायता प्राप्त करने के लिए, किया।

मुस्तफ़ा कमाल ने देखा कि देश में अशिक्षा का अन्धकार सर्वत्र छाया हुआ है, ऐसी दशा में स्वतंत्रता का दीपक कैसे जल सकेगा। ईर्षा, द्वेष, गुट-बंदियां और अपने निजी स्वार्थ के लिए विश्वासघात करना मिस्र में साधारण बातें थीं। नामधारी नेता देश के प्रति विश्वासघात करने में तनिक भी न हिचकते थे। अभाग्यवश यह रोग समस्त पूर्वीय देशों में पाया जाता है। बात यह है कि ग्रामीण जनता अशिक्षित होने के कारण स्वार्थी

लोगों के हाथ की कठपुतली बन जाती है। मुस्तफ़ा कमाल ने शिक्षा की आवश्यकता को समझा और अपने जीवन के अन्तिम दिनों में उसने अपनी सारी शक्ति शिक्षा कार्य में लगादी। सन् १६०५ में मुस्तफ़ा कमाल ने वीरवर मुहम्मद अली के नाम पर एक राष्ट्रीय विश्व-विद्यालय स्थापित करने की योजना बनाई, किन्तु अंग्रेज़ी-मिस्री सरकार ने उसका घोर विरोध किया, इस कारण धनी मिस्रवासियों ने उसके लिए धन नहीं दिया। पूंजीपति, भू-स्वामी तथा अन्य स्थिर स्वार्थ वालों की कहानी प्रत्येक परतंत्र देश में लगभग एकसी है। वे शासक जाति से मिलकर देश को परतंत्र बनाये रखने में सदैव सहायक होते हैं। मिस्र में राष्ट्रीय विश्व विद्यालय के लिए बहुत उत्साह था, सरकार ने जनता को अपनी ओर करन के अभिप्राय से एक विश्व विद्यालय १६०८ में स्थापित किया, किन्तु देश ने उसका स्वागत नहीं किया।

१० फ़रवरी १६०८ को मिस्र का वह सर्वमान्य नेता थोड़ी सी आयु में ही चल बसा। मुस्तफ़ा कमाल के निधन पर सारा देश शोक-मग्न हो गया। उसके शव के साथ लाखों व्यक्तियों की भीड़ थी। उसका व्यक्तित्व इतना महान था कि उसके विरोधी भी रो रहे थे। मिस्र के राष्ट्रीय आन्दोलन के एक प्रबल विरोधी ने लिखा है "आधुनिक समय में कमाल की शव-यात्रा के सदृश कैरो नगर में दूसरा दृश्य कभी देखने को नहीं मिला।"

यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यह आन्दोलन अरबी पाशा के आन्दोलन से भिन्न था। अरबी पाशा के नेतृत्व में जो युद्ध हुआ, वह किसानों की प्रथम जागृति के फल-स्वरूप हुआ था, जो शीघ्र ही शिथिल हो गया। कमाल ने जिस आन्दोलन को चलाया वह शिक्षित मध्यमवर्ग का आन्दोलन था। शहरी आन्दोलन होने के कारण उसका दमन करने में अंग्रेजों को अधिक कठिनाई नहीं उठानी पड़ी। किन्तु इस आन्दोलन का मिस्र के निवासियों पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने वालों में से धार्मिक कट्टरता के भाव नष्ट हो गये, और वे राजनीति में धर्म को न लाने की उपयोगिता को समझ गये। राष्ट्रीय नेताओं ने यद्यपि धर्म की ओर से उदासीनता प्रकट की, परन्तु उन्होंने पान-इस्लाम आन्दोलन तथा इस्लाम का उपयोग, मिस्र के राष्ट्रीय आन्दोलन को दृढ़ बनाने में, बड़ी चालाकी से किया। जागृत पूर्व की सहायता तथा सहानुभूति प्राप्त करने का यही एक उपाय था। सुदान के निवासी इस्लाम के कट्टर अनुयायी थे, इसलिए भी इस्लाम के प्रति प्रत्यक्ष उदासीनता प्रकट करना भयंकर राजनैतिक भूल होती।

राष्ट्रीय जागृति के साथ ही मिस्र में उस समय तक भिन्न भिन्न राजनैतिक दलों का भी प्रादुर्भाव होचुका था। राष्ट्रीय दल अंग्रेजों की कृपा का भिखारी न बन कर अपने प्रयत्न से स्वतन्त्रता प्राप्त करने में विश्वास रखता था। सुधारवादी दल वैध उपायों से

अनुनय विनय करके शासन सुधार प्राप्त करना चाहता था। मिस्रवासियों का विश्वास था कि इंगलैंड की लिबरल पार्टी के शासन-काल में उनकी मांग पूरी की जावेगी, परन्तु उस पार्टी ने मिस्र के प्रति वही नीति रक्खी जो अनुदार दल की थी। मज़दूर सरकार ने भी मिस्र तथा भारतवर्ष के राष्ट्रीय आन्दोलनों का बहुत कड़ाई के साथ दमन किया। उस दिन से प्रत्येक पूर्वीय देश ने, जो कि साम्राज्यवाद का शिकार बना हुआ है, आत्म-निर्भरता के सिद्धान्त को अपना लिया है।

सन १६०६ में अंग्रेज़ों ने खरतुम से लाल समुद्र तक एक रेलवे लाइन निकाल दी। सुदान को विदेशों से व्यापार करने के लिए एक स्वतन्त्र रेलपथ मिल गया। मिस्रवासियों ने इसका घोर विरोध किया; नेताओं ने तो यहां तक लिखा कि यह हमारी मृत्यु का दिन है। मुस्तफा कमाल का निधन हो चुका था। मुहम्मद फरीद-बे ने राष्ट्रीय आन्दोलन के नेतृत्व को संभाल लिया था। उन्होंने इस प्रकार सुदान को जो मिस्र का जीवन दाता है, पृथक किये जाने का घोर विरोध किया।

१३ जून १६०६ को एक ऐसी घटना हो गई जिसने देश में में अपूर्व जागृति फैला दी। नील नदी के डेल्टा में देनशावी नामक एक ग्राम है, कुछ अंग्रेज़ अधिकारी वहां कबूतरों का शिकार खेलने गये। उन्हें यह चेतावनी दे दी गई थी कि गांव के किसान इस शिकार का विरोध करते हैं। शिकार खेलते

समय एक स्त्री के गोली लग गई और एक किसान की झोंपड़ी जल कर भस्म होगई। गांव वालों और अंग्रेज अधिकारियों में इसी बात को लेकर झगड़ा होगया और इसमें तीन अंग्रेज घायल होगये। गरमी का मौसम था, भीषण अग्नि बरस रही थी, एक घायल अंग्रेज सहायता लाने के लिए भागा, किन्तु गरमी और लू के कारण गिर कर मर गया। इस घटना से अंग्रेज बौखलागये। इसके बहाने, उन्होंने मिस्रवासियों को सबक़ सिखलाने का दृढ़ निश्चय कर लिया। एक विशेष न्यायालय नियुक्त किया गया, जिसमें तीन अंग्रेज और दो चाटुकार मिस्रवासी थे। बोतरस–पाशा उसका प्रधान बनाया गया। यह केवल न्याय का ढोंग मात्र था। फैसला क्या होगा, यह पहले से ही निश्चित था, चार किसानों को मृत्यु, दो को आजीवन कारावास, तीन को एक वर्ष की क़ैद तथा पचास कोड़े, और शेष चार को पचास-पचास कोड़े लगाये जाने की आज्ञा दीगई। जिस स्थान पर यह घटना हुई थी, उसी स्थान पर सब गांव वालों के सामने बड़ी धूम-धाम से सेना का प्रदर्शन किया गया, और तदुपरान्त उन अभियुक्तों के कोड़े लगाये गये। इस अपमान से सारा मिस्र बेचैन होगया। पत्रों ने लिखा कि यह कोड़े अभियुक्तों की पीठ पर नहीं लगे हैं, वरन सारे राष्ट्र की पीठ पर मारे गये हैं।

तत्कालीन इङ्गलैंड के प्रतिनिधि लार्ड क्रोमर एक तानाशाह की भांति मिस्र पर शासन करते थे। राष्ट्रीय आन्दोलन को कुछ थोड़े से स्वार्थी लोगों की बकवास कहकर, वे इङ्गलैंड तथा योरोप

को धोखा देते रहते थे। लेकिन १६०७ में जनरल एसैम्बली ने (जिसकी बैठक दो वर्षों में एक बार होती थी) देश में प्रजातंत्र स्थापित करने, तथा विशेष क़ानूनों को तुरन्त वापिस ले लेने की मांग उपस्थित की। देनशावी कांड के क़ैदियों को तुरन्त छोड़ देने, मिस्रवासियों को उच्च पद देने, तथा शिक्षा का विस्तार करने के सम्बन्ध में प्रस्ताव पास किये गये। देनशावी कांड का असर इङ्गलैंड में भी पड़ा और लार्ड क्रोमर वापस बुला लिए गये।

लार्ड क्रोमर के उत्तराधिकारी होकर, ऐल्डन गोर्स्ट मिस्र में आये, उन्होंने देश के क्षुब्ध वातावरण को शान्त करने के लिए आरम्भ में प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं के अधिकारों को बढ़ा दिया, किन्तु जब मिस्रवासी संतुष्ट न हुए तो नये रैज़ीडेन्ट ने भी दमन की नीति को अपनाया। बोतरस पाशा, जिससे देनशावी कांड के कारण देश घृणा करता था, १६०६ में प्रधान मंत्री बनाया गया। चाटुकार बोतरस पाशा अंग्रेज़ों के इशारों पर शासन-कार्य करने लगा। पत्रों की स्वतंत्रता हरण कर ली गई, राष्ट्रीय पत्र बन्द कर दिये गये, राष्ट्रीय दल के लोगों को या तो नज़र-बंद किया गया, अथवा देश-निकाला दे दिया गया। सारे देश में आतंक छा गया। जिस किसी नवयुवक पर तनिक भी सन्देह हो जाता कि वह राष्ट्रीय दल के साथ है, पुलिस उसके पीछे पड़ जाती। ३० फ़र्वरी १६१० को इब्राहीम बरदानी नामक विद्यार्थी ने प्रधान मंत्री बोतरस पाशा की हत्या कर डाली। बोतरस पाशा

ईसाई कोप्टस का नेता था, अतएव मुसलमानों और ईसाई कोप्टस में कलह आरम्भ हो गया।

सन् १६११ में लार्ड किचनर मिस्र में ब्रिटिश प्रतिनिधि के रूप में आये, उन्होंने भी दमन नीति का ही अनुसरण किया। बाहर से ऐसा प्रतीत होने लगा कि मानों उन्होंने मिस्र के आन्दोलन को समूल नष्ट कर दिया। सन् १६१३ में मिस्र के शासन-विधान में कुछ परिवर्तन किये गये। दो एसैम्बलियों के स्थान पर एक एसैम्बली कर दी गई, निर्वाचन अप्रत्यक्ष कर दिये गये, एसैम्बली को अपने उप-सभापति के निर्वाचन का अधिकार दे दिया गया। किन्तु सरकार एसैम्बली के प्रति तनिक भी उत्तरदायी नहीं थी। एसैम्बली में राष्ट्रीय दल का बहुमत था, अतएव उसके नेता जागलूल पाशा उप-सभापति चुने गये। एसैम्बली लगातार सरकार का विरोध करती थी, किन्तु आश्चर्य की बात तो यह थी कि कैदिव भी एसैम्बली का ही समर्थन करता था।

इस समय मिस्र के देश-भक्तों ने जो विदेशों में थे, योरोप में भी केन्द्र बनाकर मिस्र के लिए आन्दोलन किया। ब्रुसल्स कांग्रेस में मिस्र की राष्ट्रीय महासभा के मंत्री ने बड़े ही हृदय-विदारक शब्दों में कहा था " मिस्र की स्वतंत्रता का प्रश्न केवल आर्थिक या राजनैतिक ही नहीं है, उसके साथ पुरातन मिस्र की संस्कृति का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। हम मिस्र की सभ्यता तथा संस्कृति

का लोप होने देना नहीं चाहते, इसी कारण हम अंग्रेज़ी शासन का विरोध करते हैं।"

इसी समय योरोपीय महायुद्ध छिड़ गया। मिस्र इङ्गलैंड के पूर्वीय साम्राज्य का पहरेदार है, अतएव ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को यह समझने में देर न लगी कि यदि इस समय मिस्र में राष्ट्रीय आन्दोलन ज़ोर पकड़ गया तो भयंकर परिस्थिति उपस्थित हो जावेगी। उधर जर्मनी भी, युद्ध में मिस्र के राष्ट्रीय आन्दोलन का लाभ उठाना चाहता था। अतएव युद्ध छिड़ते ही एसैम्बली अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दी गई और मिस्र में मार्शल-ला जारी कर दिया गया। अभी तक अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि में मिस्र पर खलीफ़ा सुल्तान का प्रभुत्व नाममात्र को था, उसका अन्त कर दिया गया, और मिस्र इङ्गलैंड का अधीन राज्य घोषित कर दिया गया। क़ैदिव अब्बास-हिलमी जो कि युद्ध छिड़ने के समय कांस्टैंटिनोपिल में था सिंहासन से उतार दिया गया और उसका चाचा हुसैन सुल्तान बनाया गया। यही नहीं, अंग्रेज़, भारतीय, तथा आस्ट्रेलियन सेनाएं बुलाकर मिस्र में जमा दी गईं जिससे कि भविष्य में यदि राष्ट्रीय आन्दोलन उग्र रूप धारण करे तो उसका दमन किया जा सके। मिस्रवासी अपने ही देश में कैदियों की भांति रहने पर विवश कर दिये गये। युद्ध के छिड़ते ही किसानों की शामत आ गई, उन पर दबाव डालकर, उन्हें सेना में भर्ती किया जाने लगा, जहां उनके साथ बहुत ही बुरा व्यवहार होता था। रैड-क्रास के लिए मिस्रवासियों से कई बार

ज़बरदस्ती चन्दा वसूल किया गया। इस अपमान तथा क्रूर व्यवहार से राष्ट्र की आत्मा हिल गई, किसान तथा शिक्षित वर्ग एक होकर देश को स्वतंत्र करने के लिए कटिबद्ध हो गये।

योरोपीय महायुद्ध की समाप्ति के पूर्व मिस्र के प्रधान मंत्री हुसेन-रुसदी पाशा की प्रार्थना पर एक कमीशन मिस्र में शासन सुधार की योजना बनाने के लिए बिठाया गया। महायुद्ध के समय में मित्र-राष्ट्रों ने, और विशेषकर अमरीका की इस घोषणा ने कि प्रत्येक राष्ट्र को अपना भविष्य निर्धारित करने का अधिकार होगा, पूर्वीय, विशेषतया मुस्लिम राष्ट्रों में बड़ी आशाएं जागृत कर दी थीं। इसी समय अक्तूबर १९१७ में सुल्तान हुसेन की मृत्यु हो गई। राष्ट्र सुल्तान हुसेन को श्रद्धा की दृष्टि से देखता था उसके स्थान पर अंग्रेज़ों ने विलास-प्रिय तथा स्वेच्छाचारी फ़ौद को सुल्तान बना दिया। नये सुल्तान ने अंग्रेज़ों से घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित कर लिया और प्रजातंत्र की भावनाओं को कुचलने का प्रयत्न करने लगा।

कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित नहीं हुई थी किन्तु एक सदस्य विलियम ब्रूनेट की असावधानी से प्रस्तावित शासन-योजना पत्रों में प्रकाशित हो गई। जो लोग कि राष्ट्रीय दल के नहीं थे, वे भी प्रस्तावित शासन-योजना को देखकर अत्यन्त असन्तुष्ट हो गये। एक ओर मित्र-राष्ट्र "आत्म-निर्णय" को महायुद्ध का लक्ष्य बता रहे थे, तथा मैसोपोटेमिया और सीरिया में राष्ट्रीय सरकार

स्थापित करने की घोषणा कर रहे थे, दूसरी ओर मिस्र को दासता की बेड़ियों में जकड़ने का प्रयत्न किया जा रहा था। सारे देश में नवीन शासन-योजना के विरुद्ध लहर फैल गई।

जागलूल पाशा ने एक घोषणा-पत्र जिसमें राष्ट्र की मांगों के अतिरिक्त इस बात का भी उल्लेख था कि जागलूल और उनके साथी राष्ट्र के प्रतिनिधि हैं, देश में हस्ताक्षरों के लिए घुमाया। लाखों मिस्रवासियों ने उस घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर किये। हस्ताक्षर करने वालों में एसैम्बली के सब सदस्य, बड़े बड़े वकील तथा अधिकारी भी थे। लेकिन अंग्रेज अधिकारियों ने उस घोषणा-पत्र को जब्त कर लिया। प्रधान मंत्री रुशदी पाशा जिसने ईमानदारी से अंग्रेजों का साथ दिया था, उसको भी इंगलैंड जाकर मिस्र की मांग को उपस्थित करने के लिए 'पास' नहीं दिया गया। इस पर प्रधान मंत्री ने त्यागपत्र दे दिया। जागलूल पाशा ने १३ नवम्बर १९१८ को ब्रिटिश हाई-कमिश्नर सर रेगिनाल्ड-विनगेट से मिलकर, इंगलैंड जाकर मिस्र की मांग वहां की सरकार के सामने रखने की आज्ञा मांगी, किन्तु हाई-कमिश्नर ने उन्हें इंगलैंड जाने की अनुमति नहीं दी।

जागलूल पाशा ने इसी अवसर पर वफ्द (राष्ट्रीय दल) को जन्म दिया, और जनवरी १९१९ में एक बहुत बड़े भोज के अवसर पर उन्होंने अपना स्वतंत्रता का प्रोग्राम सब के सामने रक्खा। उपस्थित व्यक्तियों ने वफ्द के राष्ट्रीय प्रोग्राम का सहर्ष

स्वागत किया और देश भर में वफ़्द की राष्ट्रीय योजना के लिए वातावरण तैयार हो गया।

इसके उपरान्त जागलूल ने वफ़्द का डेपूटेशन सुल्तान के पास ले जाने का निश्चय किया। किन्तु सुल्तान ने प्रतिनिधियों से मिलना अस्वीकार कर दिया। इस पर वफ़्द ने ३ मार्च १६१६ को एक पत्र सुल्तान के पास भेजा। उसमें यह मांग की गई थी कि सुल्तान यह घोषित करदे कि मिस्र अंग्रेज़ों का रक्षित राज्य नहीं है। इसका फल यह हुआ कि सेना-सचिव ने जागलूल पाशा तथा अन्य वफ़्द नेताओं को बुलाकर चेतावनी दी। दूसरे ही दिन पत्रों ने सरकार की इस अराष्ट्रीय मनोवृत्ति का घोर विरोध किया।

८ मार्च १६१६ को ह्वाइट-हाल की आज्ञानुसार जागलूल पाशा तथा उसके तीन सहयोगी क़ैद कर लिए गये और एक अंग्रेज़ी जहाज़ पर माल्टा भेज दिये गये; जो कार्य जागलूल के देश में रहने से नहीं हो सकता था, वह उनके निर्वासित होने से अनायास हो गया। सारा देश एक हो गया। देश ने जैसा वीरोचित उत्साह उस समय प्रकट किया, वैसा मिस्र में कभी देखने में नहीं आया। अंग्रेज़ों ने बहुत चाहा किन्तु कोई मिस्र-वासी मंत्रि मंडल बनाने के लिए तैयार नहीं हुआ। देश भर में मार्शल-ला जारी कर दिया गया था, पत्रों पर कड़ी सैंसर लगादी गई। सारा देश निशस्त्र था क्योंकि महायुद्ध के समय

जब मार्शल-ला जारी किया गया था तो यह आज्ञा निकाल दी गई थी कि जिस किसी के पास कोई शस्त्र पाया जावेगा, उसे फांसी दी जावेगी। अतएव सशस्त्र क्रान्ति तो नहीं हो सकी, किन्तु वैसे क्रान्ति की लहर सारे देश में फैल गई।

प्रसिद्ध अल-अज़हर विश्व-विद्यालय तथा अन्य विद्यालयों के विद्यार्थियों ने अपना विरोध प्रदर्शित किया, और सैकड़ों की संख्या में वे गिरफ्तार हुए। दूसरे दिन और अधिक संख्या में विद्यार्थियों ने प्रदर्शन किया और अंग्रेज़ों के समर्थक "अल-मोकत्तम" नामक पत्र के कार्यालय पर आक्रमण कर दिया। सेना ने गोली चलादी; बहुत से युवक मारे गये। इस घटना से और भी कटुता उत्पन्न हुई; फल-स्वरूप ११ मार्च को सर्व साधारण की हड़ताल हुई, यहां तक कि ट्राम गाड़ी भी चलना बंद हो गई और वकीलों ने भी अपना काम बन्द कर दिया। सेना ने फिर गोली चलाई और बहुत से लोग हताहत हुए।

जागलूल के क़ैद होते ही उनकी वीर पत्नी ने देश का नेतृत्व ग्रहण किया। जागलूल पाशा की पत्नी ने एक बार व्याख्यान देते हुए ठीक ही कहा था कि "यह घर राष्ट्र का घर है।" क्रांति की यह लहर राजधानी में ही सीमित न रह कर प्रान्तों में भी फैल गई। प्रान्तों से भी समाचार आने लगे कि किसानों ने तार काट डाले, और रेलवे लाइनों को उखाड़ दिया, कुछ प्रान्तों में तो राष्ट्रीय सरकारें भी स्थापित करदी गईं। किन्तु विद्रोह का

दमन भी बड़ी कठोरता-पूर्वक किया गया। प्रबल वेग से सैन्य-संचालन किया गया, अंग्रेज़ों को इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि निहत्थे राष्ट्रीय दल के विरुद्ध अपनी सैनिक शक्ति का प्रदर्शन किया जावे। २५ मार्च को लार्ड एलैनबे अपनी सेना सहित मिस्र में भेजे गये, और कठोरता के साथ आन्दोलन का दमन किया गया। साथ ही इङ्गलैंड में ज़ागलूल पाशा के विरुद्ध खूब प्रचार किया गया। साम्राज्यवाद के पोषक पत्रों की सर्वदा यही नीति रही है।

राष्ट्रीय दल के नेताओं ने सत्याग्रह को अपनाया। वकील, सरकारी कर्मचारी, विद्यार्थी सब ने काम करना छोड़ दिया। कैरो की जनता ने देश के लिए जीवन देने वाले वीरों के शवों को समारोह-पूर्वक दफ़नाया।

अन्त में अंग्रेजों को झुकना पड़ा। लार्ड ऐलैनबे ने जागलूल तथा उनके साथियों के छोड़ जाने की आज्ञा दे दी। रुसदी पाशा ने फिर प्रधान मंत्रित्व स्वीकार किया। राज्य-कर्मचारियों ने, जो कि हड़ताल पर थे, नई मांगें उपस्थित कीं, जिन में मिस्र पर से अंग्रेज़ों का संरक्षण उठाया जाना मुख्य थी। तत्कालीन मंत्री-मंडल उन मांगों को पूरा करने में असमर्थ था; इस कारण २१ अप्रैल को उसने अस्तीफा देदिया। यह जनमत की प्रथम विजय थी।

जब जनता की मांगों को पूरा न कर सकने के कारण

तत्कालीन मंत्री-मंडल ने त्यागपत्र दे दिया तो सुल्तान और अंग्रेजों के चाटुकार मुहम्मद सैयद पाशा ने मंत्री-मंडल बनाया। मिस्र की स्वतंत्रता के वास्ते किये गये इस तीसरे विद्रोह का, पिछले दोनों विद्रोहों से इस कारण अधिक महत्व है, कि यह पहला अवसर था कि सारा राष्ट्र एक साथ मिल कर खड़ा हुआ। क्रान्ति की लहर शहरों को पार कर गांवों में पहुंच गई थी। किसानों और नगर निवासियों दोनों ने स्वतंत्रता के युद्ध में भाग लिया था। इस बार के आन्दोलन से बड़े घराने के लोग भी न बच सके; उन्होंने भी राष्ट्रीय आन्दोलन को सहायता पहुंचायी। कोप्ट जाति के लोग भी राष्ट्रीय झंडे के नीचे आकर खड़े हुए थे। जो कोप्ट अभी तक विजातियों की शक्ति बढ़ाने में ही अपना लाभ समझते थे, वे भी जागलूल के दल में सम्मिलित हो गये। यही नहीं, मार्च के विद्रोह में सर्व प्रथम कोप्टस ने ही अपनी आहुति दी थी। मिस्र में प्रथम बार कोप्ट पादरियों ने अल-अज़-हर तथा अन्य मस्जिदों में, और मुसलमान नेताओं ने गिरजों में जाकर राष्ट्र को स्वतंत्रता के युद्ध में सम्मिलित होने के लिए आवाहन किया। उन दिनों राष्ट्रीय दल के झंडों पर क्रास और चांद के चिन्ह एक साथ बनाये जाते थे।

यही नहीं; इस आन्दोलन में मिस्र के इतिहास में प्रथम बार स्त्रियां हरमों से बाहर निकलीं, और उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लिया। जब राज्य-कर्मचारियों ने हड़ताल की तो

महिलाओं ने धरना देकर नये कर्मचारियों को राज्य के दफ्तरों में जाने से रोक दिया। सच बात तो यह है कि मिस्र में ऐसी अपूर्व जागृति कभी नहीं हुई।

१६१६ के विद्रोह का फल यह हुआ कि इङ्गलैंड के राजनीतिज्ञों ने यह अनुभव किया कि मिस्र की राजनैतिक स्थिति गम्भीर होती जारही है। अतः १६१६ के मई मास में यह निश्चय किया गया कि लार्ड मिलनर की अध्यक्षता में एक कमीशन इस बात की जांच के लिए भेजा जाय कि पिछले विद्रोह के क्या क्या कारण थे, और मिस्र में शान्ति स्थापित करने में कैसा शासन-विधान सहायक होगा। कमीशन में एक भी मिस्रवासी नहीं था। सारे देश ने कमीशन का बहिष्कार किया। मंत्री-मंडल ने उसके विरोध-स्वरूप पद-त्याग दिया और कोप्ट युसुफ वहाब पाशा ने प्रधान मंत्रित्व स्वीकार करके मंत्री-मंडल बनाया। इसी समय लार्ड बैलफोर ने हाउस-आव-कामन्स में निम्न आशय की घोषणा की—"मिस्र में ब्रिटेन की प्रभुता स्थापित है, भविष्य में भी वह मिस्र में अपनी प्रभुता की रक्षा करेगा, इस विषय में मिस्र अथवा उसके बाहर किसी को भी भूल नहीं करनी चाहिए।"

७ दिसम्बर १६१६ को मिलनर कमीशन ने मिस्र की भूमि पर पैर रक्खा। कमीशन का पूर्ण बायकाट हुआ, उस के सामने गवाही देने वाले भी पैदा नहीं हुए। जब कभी किसी किसान से

कमीशन ने कुछ पूछा तो सारे देश में केवल एक ही उत्तर मिला, "यह जागलूल जानता है।" राजकीय घराने के सदस्यों, सामाजिक नेताओं, और धर्माचार्यों ने भी कमीशन का विरोध किया। मार्च १९२० में कमीशन वापिस लौट गया।

कमीशन के जाते ही अंग्रेजों ने सुदान में सिंचाई की योजना प्रकाशित करदी। ब्रिटिश सिंडिकेट यहां विस्तृत क्षेत्र पर कपास की खेती करवा कर लाभ उठाना चाहती थी; मिस्र का का एक भयंकर प्रतिद्वन्दी उनके ही रुपये से खड़ा किया जा रहा था। मिस्र के नेताओं ने देखा कि अब अंग्रेजों का मुका-बिला किये बिना कोई चारा नहीं। अस्तु, कमीशन के जाते ही मार्च १९२० में एसैम्बली के सदस्यों ने मिलकर यह प्रस्ताव पास कर दिया कि सन् १९१४ के बाद के सब सरकारी ऐक्ट गैर-कानूनी हैं, और रद्द किये जाते हैं। साथ ही मिस्र के व्यापार तथा उद्योग धंधों को विदेशियों के प्रभाव से मुक्त करने के लिए उन्होंने एक राष्ट्रीय बैंक, " बंके मिस्र " के नाम से खोला।

मिलनर कमीशन ने इङ्गलैंड जाकर जागलूल पाशा तथा अन्य मिस्री नेताओं से बात चीत की। मिस्र की स्वतंत्रता को स्वीकार करने, और सेना को केवल साम्राज्य के मार्गों की रक्षा के लिए रखने की बात स्वीकार करली गई। किन्तु विदेशियों को प्राप्त सुविधाएं और न्याय तथा अर्थ-मंत्री के साथ अंग्रेजी सलाहकारों को रखने के विषय में परिवर्तन न करने की शर्त

रक्खी गई। जागलूल पाशा ने इन शर्तों को स्वीकार करने से पूर्व अपने देशवासियों का मत ले लेना आवश्यक समझा। देश ने विदेशियों की सुविधाओं को तुरन्त नष्ट करने तथा अंग्रेज़ी सलाहकारों के अधिकारों को कम करने की मांग उपस्थित की। समझौता न हो सका, और मिस्र के नेता इङ्गलैंड से स्वदेश लौट गये।

१८ फ़रवरी १६२० को कमीशन की रिपोर्ट पूर्व निर्धारित रूप में प्रकाशित हुई। ब्रिटिश सरकार ने सुल्तान से अदली पाशा के नेतृत्व में एक प्रतिनिधि-मण्डल भेजने, तथा अदली पाशा को प्रधान मंत्री बना देने को कहा। अदली पाशा ने प्रतिनिधि-मण्डल का नेतृत्व स्वीकार करते हुए जागलूल पाशा को अपने साथ मंत्री-मंडल बनाने के लिए आमंत्रित किया। अप्रैल १६२१ में जागलूल मिस्र लौटे, देश में उनका ऐसा शानदार स्वागत हुआ कि जो सम्राटों की भी ईर्षा की वस्तु थी। तीन बार नवीन मंत्री-मंडल के दबाव के कारण साधारण चुनाव हुए किन्तु तीनों बार जागलूल की विजय हुई। जागलूल ने स्पष्ट कह दिया कि मैं तभी लन्दन जाकर संधि की बात चीत कर सकता हूँ जब कि प्रतिनिधि-मंडल को आदेश दे दिया जावे कि वह पूर्ण स्वतंत्रता की मांग उपस्थित करे, देश से मार्शल-ला तथा अन्य दमनकारी क़ानून तुरन्त उठा लिये जावें, तथा मेरे साथ जाने वाले प्रतिनिधि-मण्डल का कोई सदस्य ही इस मंडल का नेता हो। अदली इन शर्तों को मानने को तैयार नहीं हुआ।

इस पर जागलूलने प्रतिनिधि-मंडल का चुनाव, नेशनल एसैम्बली द्वारा किये जाने की मांग की, परन्तु अदली ने यह भी स्वीकार नहीं किया। अदली पाशा स्वयं इङ्गलैंड गया और लार्ड कर्जन से बात चीत की। चार बातों पर मतभेद रहा (१) सुदान पर मिस्र का अधिकार, (२) स्वेज़ नहर के प्रदेश के बाहर अंग्रेज़ी सेना का रहना, (३) अंग्रेजी सलाहकारों के असीमित अधिकार, तथा (४) ब्रिटेन का मिस्रकी पर-राष्ट्र नीति पर अधिकार। अदली भी अंग्रेज़ों की बातों को स्वीकार न कर सका, बात चीत बन्द हो गई। उसने मिस्र आकर पद त्याग दिया। एक बार फिर देश बिना किसी सरकार के, सेना द्वारा शासित होने लगा।

अंग्रेज़ राजनीतिज्ञों ने देखा कि मिस्र के प्रतिनिधियों से बातचीत करना व्यर्थ है, अतएव ३ दिसम्बर १९२१ को लार्ड एलैनवे ने नवीन शासन-विधान सम्बन्धी एक नोट सुल्तान के सामने उपस्थित किया। यह विधान प्रतिक्रियावादी चर्चिल के दिमाग़ की उपज थी। नरम से नरम मिस्रवासी ने भी नवीन शासन-विधान को स्वीकार करने योग्य नहीं समझा।

वफ्द ने २३ दिसम्बर १९२१ को एक सभा करने की घोषणा की, किन्तु मार्शल-ला के अन्तर्गत सभा करने की आज्ञा नहीं मिली। जागलूल ने एक वक्तव्य निकाला, वे अपने तीन सहयोगियों सहित गिरफ्तार कर लिए गये, और अदन भेज दिये गये। देश में फिर विद्रोह हो गया। एक बार फिर श्रीमती

जागलूल के नेतृत्व में स्त्रियों ने स्वतंत्रता-संग्राम में भाग लिया। हज़ारों की संख्या में देश-भक्त स्त्री पुरुष जेल के अन्दर बन्द कर दिये गये।

लार्ड एलैनबे समझ गये कि दमन से काम नहीं चलेगा, उन्होंने ब्रिटिश सरकार को समझाकर शरबत पाशा से मंत्री-मंडल बनाने को कहा। शरबत पाशा ने एक शासन-योजना बनाई, जिससे कि मिस्रवासियों को कुछ संतोष हो जाता, किन्तु ब्रिटिश सरकार ने उसे स्वीकार नहीं किया। लार्ड एलैनबे वापिस बुला लिए गये। उन्होंने ब्रिटिश मंत्री-मंडल को मिस्र की गम्भीर स्थिति का परिचय कराया। इस पर ब्रिटिश सरकार ने मिस्र की स्वतंत्रता की घोषणा करदी। किन्तु निम्नलिखित चार विषय ब्रिटेन के अधिकार में रहे :—साम्राज्य के मार्गों की रक्षा, मिस्र की विदेशी आक्रमण से रक्षा, विदेशियों को प्राप्त सुविधाओंका प्रश्न, और सुदान का शासन। इस घोषणा के द्वारा मिस्रवासियों को लेश-मात्र भी स्वतंत्रता नहीं दी गई थी, और वे ऐसे मूर्ख नहीं थे, जो इस बात को समझ न सकते। यही कारण था कि देश ने कोई प्रसन्नता प्रकट नहीं की।

पहली मार्च १६२२ को सुल्तान ने 'किंग' की उपाधि धारण की, और शरबत पाशा ने प्रधान मंत्रित्व स्वीकार कर लिया। जब सुल्तान-फौद-प्रथम ने किंग की उपाधि धारण करते समय सार्वजनिक प्रदर्शन किया, तो जनता ने कोई उत्साह

प्रकट नहीं किया । केवल एक ध्वनि सुनाई पड़ी "जागलूल चिरंजीवी हो"। ५ जुलाई १९२३ को मार्शल-ला हटाया गया, जागलूल पाशा को अपने देश में लौट जाने की आज्ञा मिल गई। जागलूल के, देश में आते ही मिस्र में चुनाव की तैयारियां होने लगीं; चुनाव हुआ, वफ्द की अभूतपूर्व विजय हुई। जागलूल ने प्रधान मंत्रित्व पद स्वीकार कर लिया। उस ने घोषणा की कि मिस्र के लिए पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करना मेरी नीति होगी।

२८ जून को मिस्र की पार्लियामेण्ट ने मिस्र में स्थित अंग्रेजी सेना का व्यय देना अस्वीकार कर दिया। जागलूल चाहता था कि स्वेज़ नहर को रक्षा का भार राष्ट्र-संघ (लीग-आफ-नेशन्स) को दे दिया जावे, जिससे अंग्रेजों को वहां सेना रखने का कोई बहाना ही न रहे। विदेशियों के विषय में जागलूल कहता था कि वह निर्भय होकर मिस्र में रह सकते हैं। अल्प जातियों के हितों के सम्बन्ध में जागलूल ने यह घोषणा करदी कि अब यह प्रश्न उठता ही नहीं, क्योंकि मुसलमानों और कोप्ट ईसाइयों में बहुत अच्छा सम्बन्ध है। मिस्रवासी यह भी चाहते थे कि ब्रिटिश प्रतिनिधि भविष्य में हाई कमिश्नर न कहलावे और सुदान पर मिस्र का शासन हो। किन्तु इङ्गलैंड के तत्कालीन प्रधान मन्त्री इस विषय में कोई समझौता करने को तैयार नहीं थे।

१९ नवम्बर १९२४ को सर ली-ओ-यफ-स्टाक का, जो

मिस्र में स्थित ब्रिटिश सेना के कमांडर थे, किसी ने वध कर दिया। ब्रिटेन को एक अवसर मिल गया। अंग्रेज़ी सरकार ने मिस्र सरकार को चेतावनी देते हुए, इस कांड के लिए क्षमा याचना करने, पांच लाख पौंड हर्जाना देने, सुदान से सारी मिस्री सेना हटा लेने, और मंत्रियों के ब्रिटिश सलाहकारों के अधिकारों को पुनः वापस दे देने की मांग की। जागलूल पाशा ने इन अनुचित मांगों को अस्वीकार कर दिया। अंग्रेज़ी सेना के दबाव के कारण जागलूल को पद त्यागना पड़ा। किंग फौद ने जिवर पाशा को प्रधान मंत्री मनोनीत किया। पार्लियामेंट तोड़ दी गई, नया चुनाव हुआ, अंग्रेज़ों तथा तत्कालीन सरकार ने पूरा प्रयत्न किया कि जागलूल के दल के लोग न चुने जावें। इस पर भी जब पार्लियामेंट के सभापति का चुनाव हुआ तो जागलूल चुन गये। प्रधान मन्त्री की प्रार्थना पर पार्लियामेण्ट फिर तोड़ दी गई। निर्वाचन संबंधी नियमों में परिवर्तन करने के लिए एक कमीशन नियुक्त किया गया, तब तक चुनाव स्थगित रहे। कमीशन ने प्रत्यक्ष चुनाव के स्थान पर अप्रत्यक्ष चुनाव प्रचलित करने तथा मतदाताओं की संख्या को घटा कर आधी कर देने की सिफ़ारिश की। यह सब इस लिए किया गया था कि जिससे चुनाव में जागलूल के दल की विजय न हो।

मिस्र की राजनैतिक स्थिति फिर भयावह हो उठी थी। मंत्री-मंडल तथा किंग फौद जनमत के विरुद्ध अंग्रेज़ी अधिकारियों के इशारे पर नाच रहे थे। किंग फौद प्रजा की गाढ़ी कमाई को

पानी की भांति बहा रहा था। इसी समय देश में एक नवीन विचार-क्रान्ति उत्पन्न हुई। न्याय विभाग के एक अधिकारी शेखअली-अब्बुल राज़ेक ने एक पुस्तक लिखकर प्रमाणित किया कि इसलाम का क़ानून मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन को नियंत्रित करने के लिए है, उसका सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है। कट्टर मुल्लाओं तथा अल-अज़हर के अध्यापकों ने उसका घोर विरोध किया, और उसको न्यायाधीश पद से हटा दिया गया। जनमत शेख़ के साथ था। अभी तक पूर्व में धर्म राजनीति के सिर पर बैठ कर उसका नियन्त्रण करता रहा है, किन्तु अब वह समय आगया है जब कि पूर्व भी धर्म को उस स्थान से हटा देना चाहता है।

उपर्युक्त अनुत्तरदायी मंत्री-मंडल का देश में कोई भी सहायक नहीं था। २१ नवम्बर १९२५ को वफ़्द राष्ट्रीय तथा नरम दल के १७० चैम्बर के सदस्यों और ६६ सिनेटर्स ने घोषणा करदी कि शासन-विधान के अनुसार पार्लियामेंट अभी जीवित है और सरकार के कार्य अनियमित हैं। उन्होंने जागलूल को एसैम्बली का सभापति चुन कर जनता के नाम इस निरंकुश शासन का विरोध करने की अपील निकाली। ज़िवरपाशा तथा अंग्रेजों ने नवीन निर्वाचन-नियमों के अनुसार चुनाव कराने का प्रयत्न किया, परन्तु सारा देश विरोधी था। अतएव जनमत के सामने हाई कमिश्नर तथा प्रधान मंत्री को झुकना पड़ा। पुराने नियमों के अनुसार निर्वाचन हुआ, वफ़्द का फिर बहुमत होगया।

जागलूल चैम्बर का सभापति चुना गया और तीनों दलों ने 'मिल कर मंत्री-मंडल बनाया; आरम्भ में अदली, तत्पश्चात शरबतपाशा प्रधान मंत्री बने।

जुलाई १९२७ में किंग फौद प्रधान मंत्री शरबतपाशा के साथ लन्दन गये, और फिर से नवीन सन्धि की बातचीत आरम्भ हुई। शरबत पाशा तथा ब्रिटिश सरकार की प्रस्तावित संधि को वफ़्द ने स्वीकार नहीं किया। यह प्रयत्न भी असफल हुआ, और शरबत पाशा ने पद त्याग दिया। इसी समय मिस्र के सर्बमान्य राष्ट्रीय नेता जागलूल का स्वर्गवास होगया। जाग-लूल आधुनिक मिस्र का उन्नायक, और उसमें स्वतन्त्रता की अमिट पिपासा भरने वालों में अग्रणी था।

जागलूल की मृत्यु के उपरांत वफ़्द का नेतृत्व नहसपाशा ने लिया और उन्होंने मंत्री-मण्डल की स्थापना की। सन् १९३० में नहसपाशा लन्दन गये और सन्धि की बात फिर आरम्भ हुई। सन्धि के अनुसार मिस्र को स्वतन्त्र राष्ट्र स्वीकार कर लिया गया और उसके, राष्ट्र-संघ का सदस्य बनने की बात भी निश्चित हो गई। हाई-कमिश्नर का पद तोड़ देने, तथा समय पड़ने पर एक दूसरे को सहायता देने, स्वेज़ नहर की रक्षार्थ कुछ स्थानों को छोड़ कर शेष सेना को तुरन्त हटा लेने, तथा बीस वर्ष के उप-रान्त उसको भी हटा लेने की बात तय होगई। यदि उस समय इस विषय पर आपस में कोई समझौता न होसका तो

राष्ट्र-संघ से निर्णय कराने, तथा नहर की रक्षा का भार मिस्र सरकार द्वारा स्वीकार किये जाने का निश्चय हुआ। किन्तु सुदान में मिस्रवासियों को जाकर बसने के अधिकार पर कोई समझौता न हो सका। नहसपाशा मिस्रवासियों के सुदान में बसने पर कोई भी प्रतिबन्ध स्वीकार नहीं करना चाहते थे। इधर नहसपाशा सन्धि की बात चीत करही रहे थे, उधर क़ैरो में किंग फौद ने नहसपाशा को प्रधान मंत्री पद से हटा कर सिदक़ी पाशा को प्रधान मंत्री नियुक्त कर दिया। किंग ने एक वार फिर स्वेच्छाचारी शासन-अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न किया, किन्तु जनता में जागृति उत्पन्न हो चुकी थी, अतएव मिस्र में फिर आन्दोलन हुआ। ब्रिटिश सरकार ने उस समय तक संधि सम्बन्धी बात चीत करना अस्वीकार कर दिया जब तक कि देश की विश्वास-भाजन सरकार के प्रतिनिधि सन्धि करने न आवें।

अब वफ्द तथा किंग फौद द्वारा नियुक्त किये गये प्रतिक्रियावादी मंत्री-मंडल में संघर्ष आरम्भ हुआ। पार्लियामेंट में वफ्द का प्रतिनिधित्व कम करने के विचार से सिदक़ी पाशा ने एक नवीन शासन-विधान बनाया; फल-स्वरूप राजनैतिक कलह की वृद्धि हुई। १९३० के नवीन शासन विधान का देश ने ऐसा घोर विरोध किया कि वह लागू ही न हो सका। अस्तु, देश बिना किसी विधान के ही शासित होने लगा।

सन् १९३५ में इटली ने अबीसीनिया पर आक्रमण कर दिया

और स्वतंत्र अबीसीनिया राष्ट्र पर साम्राज्यवाद की दासता का जुआ रख दिया। इंगलैंड इटली के इस कार्य से चौंका, भूमध्य-सागर में इटली की विजय से उसकी शक्ति को बहुत बड़ा धक्का लगा। राष्ट्रवादी वफ्द दल के अन्तर्गत जो उग्रवादी थे, वे उस परिस्थिति से लाभ उठाकर स्वदेश के लिए अधिक अधिकार प्राप्त कर लेने के पक्ष में थे। उन्हें आशा थी कि वर्तमान सरकार अंग्रेजों पर दबाव डालकर मिस्र के अनुकूल संधि कराने में सफल होगी। परन्तु राजा फौद और उसके प्रधान मंत्री नसीम-पाशा की दुर्बलता से, और युवराज फारुक़ को युद्ध विद्या सीखने के लिए इंगलैंड भेजने की व्यवस्था से, तरुण दल की सब आशाओं पर पानी फिर गया।

इसी समय पार्लियामेंट में पर-राष्ट्र सचिव सर सेमुयल होर ने यह घोषणा की कि मिस्र में इस समय पुनः कोई शासन-विधान (नया या पुराना) प्रचलित करने की ब्रिटिश सरकार इच्छुक नहीं है, और न यह अवसर संधि ही उपयुक्त है। इस घोषणा ने मानों सारे राष्ट्र में अग्नि फूंक दी। एक बार फिर सारे देश में क्रान्ति की ज्वाला धधक उठी; नगर-नगर में राज-नैतिक दंगे हुए, विद्यार्थियों, मज़दूरों और किसानों ने साम्राज्य-वादी इंगलैंड के विरुद्ध प्रदर्शन करने में खूब भाग लिया। फ़र्वरी १९३६ तक यह आन्दोलन चलता रहा। दमन हुआ, कितने ही लोग हताहत हुए, और राजनैतिक अशान्ति ने गुरुतर रूप धारण कर लिया। उस समय देश के सभी राजनैतिक दल मिल गये,

उन्होंने एक होकर नसीमपाशा के अधिनायकत्व का विरोध किया। उस समय वफ्द, नरम, शाबीस्त, नेशनेलिस्ट, शादी-वफ्द, और स्वतंत्र सभी दलों ने एक संयुक्त मोर्चा बनाया और उसने आन्दोलन का नेतृत्व अपने हाथ में ले लिया।

राष्ट्रवादियों का ऐसा सुदृढ़ संगठन हो जाने से राजा फौद चौंका और अंग्रेज़ राजनीतिज्ञों ने भी मिस्र की गम्भीर स्थिति को शान्त करने की आवश्यकता अनुभव की। मिस्र के हाई-कमिश्नर ने तुरन्त एक विज्ञप्ति इस आशय की निकाली कि इंगलैंड, मिस्र से उस दशा में संधि करने को तैयार है जब मिस्र में ऐसी सरकार स्थापित हो जिसमें सब दलों का प्रतिनिधित्व हो। इसका फल यह हुआ कि नसीम पाशा को पद त्यागना पड़ा। किन्तु उससे पूर्व उसने १९२३ का शासन-विधान प्रचलित करवा दिया। नियम के अनुसार पार्लियामेंट का चुनाव मई में ही हो सकता था, अतएव जनवरी से मई तक शासन-कार्य चलाने के लिए एक गंगा-जमुनी सरकार की आवश्यकता थी, किन्तु भिन्न-भिन्न दल आपस में कोई समझौता न कर सके। अतएव राजा फौद ने अली-महल-पाशा के प्रधान मंत्रित्व में एक मंत्री-मंडल निर्वाचन के समय तक के लिए नियुक्त कर दिया।

देश के सारे राजनैतिक दलों ने इङ्गलैंड में संधि की बात-चीत करने के लिए एक प्रतिनिधि-मंडल बनाया। इस मंडल के नेता नहसपाशा चुने गये। मंडल में ६ सदस्य वफ्द दल के, तथा

एक-एक सदस्य शेष पांचों दलों का रक्खा गया। यह प्रतिनिधि-मंडल मार्च में संधि करने के लिए इङ्गलैंड गया। इधर मिस्र की पार्लियामेंट का चुनाव हुआ और वफ्द दल का बहुमत हो गया। नहस पाशा प्रधान मंत्री नियुक्त हुए। बहुत महीनों के परिश्रम के उपरान्त संधि हुई, जिसको दोनों देशों ने स्वीकार कर लिया। संधि की मुख्य शर्तें निम्न लिखित हैं:—

मिस्र पर से सैनिक अधिकार उठा लिया जावेगा, दोनों देशों में मैत्री स्थापित होगी। यह संधि बीस वर्ष तक रहेगी उसके उपरान्त फिर नवीन संधि होगी। यदि दोनों देश सहमत हों तो दस वर्ष में ही नवीन संधि की जा सकेगी। दोनों देश किसी तीसरे देश से संधि अथवा युद्ध करते समय एक दूसरे की सम्मति लेंगे, और युद्ध में एक दूसरे की सहायता करेंगे। यह शर्त उन्हीं युद्धों के लिए लागू होगी कि, जो राष्ट्र-संघ अथवा पैरिस-पैक्ट की नीति के विरुद्ध न हों। युद्ध के समय मिस्र ब्रिटेन को सारी सुविधाएं देगा, अर्थात् इङ्गलैंड मिस्र की स्थल और जल सेना, हवाई जहाज़ तथा उनके अड्डों और समनागमन के साधनों का उपयोग कर सकेगा। यहां तक कि इंगलैंड की सरकार मिस्र के शासन-यन्त्र को भी अपने अधिकार में कर सकेगी, और आवश्यकता पड़ने पर मार्शल-ला भी घोषित किया जा सकेगा।

संधि के अनुसार स्वेज़ नहर-प्रदेश को मिस्र देश का एक भाग मान लिया गया है, परन्तु उसके अन्तर्राष्ट्रीय महत्व को देखते हुए तथा ब्रिटिश पूर्वीय साम्राज्य के लिए उसकी रक्षा की आवश्यकता का अनुभव करते हुए मिस्र अंग्रेज़ी सरकार को नहर-प्रदेश में दस हज़ार स्थल-सेना तथा चार सौ उड़ाकू रखने का अधिकार देगा। यह अधिकार उसी समय तक के लिए होगा कि जब तक दोनों देश यह स्वीकार नहीं कर लेते कि मिस्र की सेनाएं नहर की रक्षा करने के योग्य हो गई हैं। युद्ध के समय में यह

सेना बढ़ाई जा सकेगी। संधि की समाप्ति के उपरान्त यदि सेना के हटाये जाने पर दोनों देशों में मतभेद होगा तो राष्ट्र-संघ से इस बात का निर्णय कराया जावेगा कि मिस्र की सेना नहर की रक्षा करने के योग्य है, अथवा नहीं। अथवा, कोई ऐसा पंच नियुक्त किया जावेगा जिसे दोनों देश स्वीकार कर लें।

मिस्र सरकार नहर-प्रदेश में ब्रिटिश सेना के लिए बारक़ बनवावेगी तथा रेलवे लाइन डालेगी। जब सब सुविधाएं प्राप्त हो जावेंगी तब ब्रिटिश सेना मिस्र से हट कर नहर के प्रदेश में चली जावेगी। परन्तु अलक्षेन्द्रिया की सेना आठ वर्ष तक वहीं रहेगी। ब्रिटिश हवाई जहाज़ मिस्र के जिस प्रदेश पर भी आवश्यक समझें उड़ सकेंगे। यही सुविधा मिस्र के जहाज़ों को ब्रिटिश प्रदेश पर दी जावेगी, मिस्र की सेनाओं के अंग्रेज़ अधिकारी हटा दिये जावेंगे, किन्तु मिस्र सरकार ब्रिटिश मिलिटरी मिशन की सलाह लिया करेगी। ब्रिटिश सरकार मिस्र के सैनिक अधिकारियों को सैनिक शिक्षा देने का प्रबन्ध करेगी। मिस्र की सेना के पास युद्ध-सामग्री ब्रिटिश सेना जैसी ही होगी।

सुदान का शासन १८९९ के निश्चय के अनुसार ही होता रहेगा। संधि के अनुसार यह निश्चय हो गया कि सुदान के शासन का उद्देश्य सुदान-निवासियों की उन्नति करना होगा। भविष्य में मिस्र और ब्रिटेन सुदान के विषय में फिर नई संधि कर सकते हैं। इस संधि से सुदान के स्वामित्व के प्रश्न पर कोई असर नहीं पड़ेगा।

मिस्र में योरोपीयन राष्ट्रों को विशेष आर्थिक तथा क़ानूनी सुविधाएं प्राप्त हैं, ब्रिटिश सरकार अन्य राष्ट्रों से बातचीत करके उन्हें नष्ट करवाने का प्रयत्न करेगी। सार्वजनिक रक्षा का योरोपियन ब्यूरो उप-विभाग तोड़ दिया जावेगा। भविष्य में मिस्र के प्रभुत्व पर कोई रोक-थाम न

रहेगी। विदेशियों से संबंध रखने वाले कानूनों के बनाने में कोई हस्तक्षेप नहीं किया जावेगा। थोड़े समय के लिए वर्तमान मिश्रित ट्रिब्यूनल रहेंगे जिनमें मिस्री तथा विदेशी न्यायाधीश रक्खे जावेंगे, अवधि समाप्त होने पर मिस्र-सरकार इनको तोड़ सकेगी। मिस्र-सरकार को यह आश्वासन देना होगा कि भविष्य में वह जो भी कानून बनावेगी वह विदेशियों के प्रति अन्याय-पूर्ण न होंगे।

ऊपर लिखी हुई शर्तों को देखने से यह भली भांति ज्ञात हो जाता है कि मिस्र अभी पूर्ण स्वतन्त्रता से बहुत दूर है। सन् १६३० में संधि का जो मसविदा बना था, वह लगभग यही था, किन्तु मिस्र के नेताओं ने उसे स्वीकार नहीं किया। इस समय मिस्र के नेताओं ने दो कारणों से इस संधि को स्वीकार कर लिया। एक तो देश में ही राजा फौद तथा प्रतिक्रियावादी वर्ग उनके विरुद्ध षडयंत्र करने पर तुले हुए थे, दूसरे अबसीनिया पर इटली का साम्राज्य स्थापित होजाने से मिस्र के लिए भी खतरा होगया है। इन्हीं कारणों से नहसपाशा ने यह संधि स्वीकार करली।

संधि पर हस्ताक्षर होने के कुछ ही समय उपरान्त राजा फौद का स्वर्गवास होगया, और युवराज फारुक जो उस समय इङ्गलैंड में सैनिक शिक्षा प्राप्त करने गये हुए थे, सिंहासन पर बैठे। युवक राजा और प्रधान-मंत्री नहसपाशा में मत भेद था। नहसपाशा क्रमशः राजा के अधिकारों को कम करके, तथा प्रति-क्रियावादी वर्ग की शक्ति को नष्ट करके पार्लियामेंट की शक्ति

बढ़ाना चाहते थे। किन्तु पूर्वीय देशों में जो अभी तक राजाओं द्वारा शासित होते आये हैं, प्रजातंत्र की भावना धीरे धीरे दृढ़ होगी। जैसे जैसे मिस्र में प्रतिक्रियावादी वर्ग की शक्ति नष्ट होती जावेगी, स्वतंत्रता का समय निकट आता जावेगा।

मिस्र के उग्रवादी इस नवीन संधि से संतुष्ट नहीं हैं। हरी कमीज़ वाला दल विशेष रूप से इस संधि को देश के लिए हानिकारक तथा अपमान-जनक समझता है। २६ नवम्बर १६३७ को एक बाईस वर्षीय युवक ने जिसका नाम इज्जेदीन ख़ादिर था, प्रधान मंत्री नहसपाशा पर गोली चलाई। प्रधान मंत्री बाल-बाल बच गये। यह ध्यान में रखने की बात है कि युवक ख़ादिर स्वर्गीय अरबी पाशा का पौत्र था। उसने १८८२ में मिस्र की प्रथम क्रान्ति का नेतृत्व किया था। विरोधी नेता मुहम्मद महमूद संधि के विरोधियों का भी मुखिया था।

प्रधान मंत्री नहस पाशा और युवक राजा फारुक़ में मत भेद था, यह तो पूर्व ही कहा जा चुका है। १६३७ के दिसम्बर मास में मिस्र में एक अत्यन्त महत्व-पूर्ण राजनैतिक परिवर्तन हुआ। प्रधान मंत्री नहस पाशा, विधान की रक्षा के लिए एक बिल मिस्र की राष्ट्र-सभा में उपस्थित करना चाहते थे। उसकी एक धारा का आशय यह था कि यदि किसी प्रधान मंत्री को राष्ट्र-सभा में बहुमत प्राप्त न हो तो उसे कानूनन अपने अधिकार छोड़ने होंगे। बादशाह को इस धारा से अपने अधिकारों पर आघात

होने का डर था, और इस कारण प्रधान मंत्री तथा बादशाह के बीच वैधानिक संकट उपस्थित हो गया। बादशाह फारुक़ ने मंत्री-मंडल तोड़ दिया और मुहम्मद महमूद पाशा द्वारा दूसरा मंत्री-मंडल बनवा लिया। परन्तु मिस्र की पार्लियामेंट (राष्ट्र सभा) में वफ्द दल का बहुमत था, इस कारण नवीन मंत्री-मंडल को पग पग पर कठिनाइयां होतीं, अस्तु, २ फरवरी को बादशाह फ़ारुक़ ने पार्लियामेंट भी तोड़ दी।

वफ्द नेता नहसपाशा का कहना था कि यद्यपि विधान ने बादशाह को पार्लियामेंट तोड़ देने का अधिकार दे रक्खा है, परन्तु इस समय बादशाह ने उसका उपयोग करके अन्याय किया है। किन्तु बादशाह फ़ारुक़ किसी भी प्रकार अपने अधिकारों को कम नहीं होने देना चाहता था, अतएव उसके लिए इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं था कि वह पार्लियामेंट तोड़ दे और भावी चुनाव में प्रजातंत्र के उग्र समर्थकों का बहुमत न होने दे। इस वैधानिक संकट को देश के सामने उपस्थित करने के लिए बादशाह फ़ारुक़ आरम्भ से ही तैयारियां कर रहा था। मस्जिद में नमाज़ पढ़ते समय अपने लिए किसी विशेष सुविधा को स्वीकार न करना, जनता के सम्पर्क में अधिक आना, और ऐसे प्रदर्शन करवाना, जिससे कि प्रजा में राजा के प्रति भक्ति उत्पन्न हो, यह सब वह बहुत पहले से कर रहा था। इसका फल यह हुआ कि नवीन निर्वाचन में वफ्द की पराजय हुई, वह बहुत थोड़ी सीटें जीत सकी।

पूर्वीय देशों में अभी भावुकता का प्राधान्य है, इसी का फारूक ने लाभ उठा लिया। हम लोग राजनीति में भी भावुकता को स्थान देते हैं। परन्तु मिस्र में एक ऐसा दल उत्पन्न हो गया है जो भावुकता से ऊंचा उठकर ठंडे दिमाग़ से, राजनैतिक समस्याओं को समझने का प्रयत्न करता है। इस कारण राष्ट्र-वादियों और शाह का यह संघर्ष तब तक चलता रहेगा, जब तक कि वह ब्रिटेन के बादशाह की भांति, केवल वैधानिक बादशाह बनना स्वीकार न कर ले।

तीसरा परिच्छेद

टर्की की राष्ट्रीय जागृति

टर्की की राष्ट्रीय जागृति की एक विशेषता ऐसी है, जो अन्य योरोपीय राष्ट्रों द्वारा शासित देशों में दृष्टिगोचर नहीं होती। जब कि टर्की में राष्ट्रीयता की पूर्ण विजय हो गई तो उसने पूर्वीयता का बहिष्कार करके पश्चिमीय सभ्यता को पूर्णतः अपना लिया। सम्भवतः इसका मुख्य कारण यह है कि टर्की की अपनी निज की कोई प्राचीन सभ्यता नहीं है!

टर्की के शासन में आधुनिकता का पुट देने वाला तथा टर्की

को अन्य योरोपीय देशों के समान ही उन्नत करने की इच्छा रखने वाला सर्व-प्रथम व्यक्ति सुल्तान महमूद द्वितीय था। सन् १८२६ में सुल्तान ने तत्कालीन 'जानिज़ारी' सेना तोड़ दी। टर्की में यह नियम था कि जो व्यक्ति इस्लाम के धार्मिक विश्वासों के विरुद्ध आचरण करने के कारण दंडित होता, उसे सैनिक बना दिया जाता था। इसके अतिरिक्त टर्की सुल्तान की ईसाई प्रजा को अपने बच्चे कर (टैक्स) के रूप में देने पड़ते थे। इन्हीं अभागे युवकों को जानिज़ारी सेना में भरती किया जाता था। सुल्तान ने इस सेना को तोड़कर आधुनिक ढंग की सेना के संगठन की आज्ञा दी।

सुलतान ने पश्चिमीय राष्ट्रों से सैनिक विशेषज्ञ बुलवाये और टर्की के युवकों को सैनिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए विदेशों में भेजा। टर्की में प्रथम बार मंत्री नियुक्त किये गये। सुल्तान ने पश्चिमीय ढंग के वस्त्र पहने और विदेशों में टर्की राजदूत भेजे गये। किन्तु इन सुधारों का साधारण जनता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

सन १८३८ में सुल्तान की मृत्यु हो गई। सुलतान अब्दुल मजीद सिंहासन पर बैठा। अब्दुल मजीद लंदन और फ्रांस में वर्षों रह चुका था, उसकी इच्छा थी कि टर्की का शासन निरंकुश न होकर वैध होना चाहिए। ३ नवम्बर १८३६ को उसने खतये-शरीफ़ के द्वारा शासन-सुधार की घोषणा की।

इस घोषणा के अनुसार ओटोमन साम्राज्य की समस्त प्रजा को चाहे वह किसी भी धर्म को मानने वाली क्यों न हो, समान अधिकार दे दिये गये। सेना, कर, तथा न्याय की पद्धति में सुधार किये गये। मुस्लिम और ग़ैर-मुस्लिम में कोई भेद न मानकर फ्रैंच क़ानूनों के आधार पर माल तथा फ़ौजदारी के क़ानून बनाये गये। किन्तु कट्टर मुस्लिम सरदारों तथा धर्माचार्यों ने इन सुधारों का स्वागत नहीं किया।

सन १८६६ में शिक्षा शेख-उल-इस्लाम के अधिकार से निकाल ली गई, और पृथक् शिक्षा-मंत्री नियुक्त किया गया। सार्वजनिक विद्यालयों की स्थापना की गई, और फ्रैंच भाषा के अध्ययन पर ज़ोर दिया जाने लगा। अभी तक इस्लाम को छोड़कर दूसरा धर्म स्वीकार करने वाले को मृत्यु-दंड दिया जाता था, वह उठा दिया गया। यही नहीं, दास-प्रथा को उठा देने का सिद्धान्त भी स्वीकार कर लिया गया। साथ ही नवीन घोषणा के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक स्वतंत्रता दे दी गई।

सन १८६१ में अब्दुल असीस सिंहासन पर बैठा। असीस निर्बल एवं विलासी था। उसके कुशासन के कारण राज्य की आर्थिक दशा बिगड़ने लगी। किन्तु पिछले सुधारों, तथा शिक्षा-प्रचार के कारण देश में जागृति उत्पन्न हो चुकी थी। शिनाशी-एफ़ैन्दी प्रथम व्यक्ति था, जिसने टर्की में साहित्यिक क्रान्ति की, और टर्की भाषा को, जो अभी तक केवल कतिपय

विद्वानों की ही समझ में आ सकने वाली थी, सुधार करके जन-समाज की भाषा बनादी। १८६० में उसने प्रथम गैर-सरकारी पत्र प्रकाशित किया, और वह उस पत्र के द्वारा नवीन विचार-धारा प्रवाहित करने लगा। इसी समय टर्की भाषा में पश्चिमीय भाषाओं की प्रसिद्ध पुस्तकों का अनुवाद किया गया। अन्य देशों की ही भांति टर्की में भी जनता की भाषा का जन्म होने के साथ ही राष्ट्रीयता का भी उदय हुआ। इस साहित्यिक क्रान्ति से शिक्षित तुर्कों में नवजीवन का संचार हुआ।

शिनासी-एफेंदी के शिष्यों ने अपने गुरू के कार्य को और भी आगे बढ़ाया। नामिल, कमाल-बे, तथा ज़िया पाशा ने साहित्यिक क्रान्ति के कार्य को पूरा किया। पीछे अन्तिम दोनों व्यक्तियों को देश-निकाला दे दिया गया। उस समय नाटक, उपन्यास, तथा सभी ओर एक नवीन राष्ट्रीय एवं प्रगतिशील साहित्यिक धारा बहती दृष्टि गोचर होने लगी।

सन १८६२ में युवकों का राजनैतिक आन्दोलन आरम्भ हुआ। सन १८६५ में अली-सौवी के सम्पादकत्व में मुशबिर नामक पत्र निकला जो टर्की में क्रान्तिकारी राजनैतिक परिवर्तनों का समर्थक था। दो वर्षों के उपरान्त पत्र का प्रकाशन बन्द कर दिया गया और अली-सौवी को भाग कर लन्दन जाना पड़ा, जहां से वह मुशबिर तथा हुरिजत (स्वतंत्रता) नामक

पत्र का सम्पादन करता रहा। यह पत्र टर्की में छिपाकर लाये जाते थे। सन १८७० में विदेशों में शिक्षा पाये हुए बहुत से नवयुवक टर्की लौटे, जिनमें एक युवक कमाल-बे था। कमाल ने इबरत नामक एक पत्र तुर्की भाषा में निकाला। यह पत्र शीघ्र ही अत्यन्त प्रभावशाली बन गया। १८७२ में टर्की में तीन दैनिक पत्र तथा कई साप्ताहिक पत्र प्रकाशित होने लगे। इन पत्रों ने देश में खूब जागृति उत्पन्न करदी। यही नहीं, फ्रैंच भाषा में भी कई पत्र ऐसे निकलते थे, जो टर्की के जागरण का कार्य कर रहे थे।

आरम्भ में सुल्तान अब्दुल-असीस प्रगतिशील शासक प्रमाणित हुआ। सन् १८६४ में अली पाशा तथा फौद पाशा के प्रभुत्व के कारण पाशाओं का प्रभुत्व कम हुआ और प्रान्तों का संगठन हुआ, प्रमुख नगरों में नगर-कौंसिलें स्थापित हुईं, जिन में ग़ैर-मुस्लिम प्रतिनिधियों को भी रक्खा गया। सुल्तान ने घोषणा निकाली कि मैं भविष्य में मुस्लिम तथा ग़ैर-मुस्लिम प्रजा में कोई भेद न समझूँगा, और राज्य के उच्च पद भी ग़ैर-मुस्लिमों को मिल सकेंगे।

परन्तु थोड़े ही दिनों में सुल्तान का ढङ्ग बदल गया। विलासी सुल्तान अपने प्रिय पात्र महमूद नदिम-पाशा के इशारे पर चलता था। नदिम-पाशा मनमानी करने लगा। किन्तु जनता अब सचेत हो गई थी। २२ मई १८७६ को धार्मिक विद्यालयों के छः

हज़ार विद्यार्थियों ने सुल्तान के महलों में बल-पूर्वक घुसकर वज़ीर को हटा देने की मांग की। सुल्तान जनमत के सामने झुका, और उसने रुसदी पाशा को प्रधान मंत्री नियुक्त करके एक मंत्री-मंडल बना दिया; इसमें मिदहत-पाशा को भी सम्मिलित किया गया। मंत्री-मंडल ने कुछ ही दिनों के उपरान्त शेखुल-इस्लाम का फ़तवा लेकर सुल्तान को सिंहासन से उतार दिया। मुराद पांचवां, सिंहासन पर बैठा, किन्तु तीन महीने के उपरान्त उसे भी सिंहासन से हटना पड़ा।

अब अब्दुल-हमीद सुल्तान हुआ। उसने टर्की को शासन-विधान देने का वचन दिया। मिदहत पाशा ने विधान का एक मसविदा तैयार किया, जो ३ दिसम्बर १८७६ को लागू हो गया। किन्तु फ़र्वरी १८७७ में मिदहत पाशा तथा विधान के अन्य समर्थकों को देश-निकाला दे दिया गया और एक वर्ष बाद पार्लियामेंट तोड़ दी गई। अब्दुल हमीद अत्यन्त चतुर राज-नीतिज्ञ था। उसने विधान की स्वीकृति का वचन देकर उस समय रूस के विरुद्ध योरोपीय शक्तियों की सहानुभूति प्राप्त करने का प्रयत्न किया, साथ ही देश में अपनी शक्ति को दृढ़ कर लिया।

अभी तक जो भी सुधार टर्की में हुए थे, उनका सर्वसाधारण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। अब्दुल-हमीद ने पिछले सुधारों को नष्ट कर दिया; वह भली भांति जानता था कि यदि शासन-सुधार आन्दोलन चलता रहा तो उसके अधिकार छिन जावेंगे।

उसने अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने, तथा योरोपीय शक्तियों पर यह प्रभाव जमाने के लिए कि मेरे साथ समस्त मुस्लिम संसार है, पान-इस्लाम आन्दोलन को खूब ही प्रोत्साहन दिया। ख़लीफ़ा का पद, जिसका अब कोई महत्व नहीं रह गया था, और टर्की के सुलतानों ने जिसका उपयोग कभी किया ही नहीं, वह अब्दुल हमीद के प्रचारकों के प्रयत्नों से मुस्लिम-संसार के लिए फिर महत्वपूर्ण बन गया।

अब्दुल हमीद के शासन में प्रगतिशील युवकों पर अत्याचार होने लगा। पुलिस, गुप्तचर, तथा सेना मनमानी करने लगी। घूस बहुत बढ़ गई, सुल्तान इसको रोकने में असमर्थ था, क्यों कि किसी योग्य व्यक्ति को वह अपना विश्वास-भाजन बनाना नहीं चाहता था। उसे डर था कि शासन-सूत्र योग्य व्यक्तियों के हाथ में चले जाने से उसके अधिकार कम हो जावेंगे। उसने मिदहत-पाशा को वापिस बुलाया, और उसे सीरिया का गवर्नर बनाया किन्तु कुछ ही समय के उपरान्त उस पर सुल्तान अब्दुल असीस की हत्या करने का अभियोग चलाया गया। अंग्रेज़ों के हस्तक्षेप के कारण उस समय उसे फांसी तो न दी जा सकी, किन्तु वह अरब के तैफ स्थान को भेज दिया गया और वहां, सुल्तान की आज्ञा से, १८८४ में गुप्त रूप से मार डाला गया।

देश-भक्त तुर्क जो किसी प्रकार पुलिस तथा गुप्तचरों की आंखों में धूल झोंककर टर्की से भाग सके, भाग गये, और हमीद

के विरुद्ध प्रचार करने लगे। सन १८६१ में तुर्क-नवयुवकों ने जैनेवा में एक सम्मेलन किया, यह भावी ओटोमन-कमेटी का सूत्रपात था, जिसका उद्देश्य एकता और उन्नति करना था। सुल्तान के गुप्तचर इन क्रान्तिकारियों से मिल जाते, उनके कार्यों का पता लगाने का प्रयत्न करते, और उनमें से कुछ को धन देकर अपनी ओर मिला लेते थे। तुर्क क्रान्तिकारियों और ओटोमन साम्राज्य में रहने वाली अन्य जातियों मे आपस में भी मतभेद था। जैसे-जैसे राष्ट्रीयता की भावना बढ़ती गई, यह मतभेद प्रबल होता गया। ग्रीक, सर्व्स, तथा बलगर टर्की साम्राज्य से पृथक् होने की बात सोच रहे थे। किन्तु बहुत कुछ प्रयत्न करने के उपरान्त १९०७ की पेरिस कान्फ्रैंस में तुर्क, आर्मीनियन, बलगर, यहूदी, अरब, तथा अलबेनियन जातियों के प्रतिनिधियों में समझौता हो गया। इस सम्मेलन में यह निश्चय हुआ कि सुल्तान को सिंहासन से उतार दिया जावे, साम्राज्य एक सूत्र में बँधा रहे, सब जातियों और धर्मों के व्यक्तियों के राजनैतिक अधिकार समान रहें, और देश का शासन प्रजातंत्र-विधान के अनुसार हो।

टर्की के बाहर ही विद्रोह नहीं था; टर्की के अन्दर भी क्रान्तिकारी आन्दोलन बल पकड़ रहा था। मैसीडोनिया-स्थित सेना के अधिकारियों ने इस आन्दोलन का नेतृत्व किया। बात यह थी कि अभी तक इङ्गलैंड और रूस की प्रतिस्पर्धा के कारण टर्की बचा हुआ था। १९०७ में इन दोनों शक्तियों ने इस विषय पर समझौता कर लिया। इसके पूर्व ही योरोपीय शक्तियों ने

टर्की का अङ्ग भङ्ग करके उसके अस्तित्व को नष्ट करने का विचार कर लिया था। आस्ट्रिया और रूस की बहुत दिनों से, मैसीडोनिया पर गिद्ध-दृष्टि लगी हुई थी और उन्होंने वहां एक सेना, सुधार करने के बहाने रखदी थी। १९०६ में मुर्जतेग की संधि के अनुसार रूस तथा आस्ट्रिया में भी समझौता हो गया। तुर्की युवक समझ गये कि अब उनके देश पर महान सङ्कट आने वाला है। टर्की की जो स्वतंत्रता अभी तक बची हुई थी, वह केवल इस कारण, कि उसके बटवारे के विषय में महाशक्तियों में भयंकर मतभेद था।

कठिन समय उपस्थित था, तरुण युवकों ने गुप्त समितियां बनाकर तैयारियां करना आरम्भ करदीं। अभी विद्रोह की पूरी तैयारियां भी न हो पाई थीं कि विदेशियों के हस्तक्षेप की सम्भावना प्रत्यक्ष दिखलाई देने लगी। इधर सुल्तान ने भी अत्याचार की हद करदी। अतएव विद्रोह करना आवश्यक हो गया। ४ जुलाई १९०९ को नियाजी-बे जो कि सेना का एक युवक अधिकारी था, अपने दो सौ सैनिकों सहित मैसीडोनिया के पहाड़ों में चला गया और उसने वहां से यह घोषणा निकाली कि देश को स्वतंत्र रखने के लिए सुल्तान को गद्दी से हटाकर नवीन शासन-विधान प्रचलित करने की आवश्यकता है। विद्रोह की भावना शीघ्रता-पूर्वक बढ़ने लगी। जो सेनाएं विद्रोहियों को दमन करने के लिए भेजी जातीं, वे भी अपने अधिकारियों को मार कर क्रान्तिकारियों से मिल जाती थीं। १२ जुलाई को अनवर-बे भी

रेसना, जहां विद्रोह का केन्द्र था, पहुँचा; उसी दिन ओटोमन कमेटी ने विद्रोह का नेतृत्व अपने हाथ में ले लिया।

सुलतान ने एनेटोलियन सेना को विद्रोह दमन करने के लिये भेजना चाहा परन्तु शेख उल-इस्लाम ने फतवा देना स्वीकार नहीं किया। जुलाई २३ को मंत्रियों ने सुलतान को सलाह दी कि प्रजा को सन् १८७६ का शासन-विधान दे दिया जावे। विद्रोह सफल हुआ, और प्रजा को शासन विधान प्राप्त हुआ। सारे तुर्क साम्राज्य में आनन्द का श्रोत फूट पड़ा। भिन्न भिन्न जातियों और धर्मों के लोग एक दूसरे से गले मिले, और जगह जगह सभाएँ और प्रदर्शन किये गये। किन्तु जोश शान्त होते ही आपस में मतभेद और कलह आरम्भ होगया। पूर्वीय जातियों में यह निर्बलता बहुत बड़ी मात्रा में पाई जाती है; उसका उत्साह क्षणिक और अस्थाई होता है।

क्रान्तिकारी नेता जिन्हें देश-निकाला देदिया गया था, देश को वापिस लौट आये, किन्तु उनमें भी मतभेद था। इस समय देश में मुख्य दो दल होगये। कियामिल पाशा प्रधान मंत्री बना। वह वृद्ध एवं चतुर राजनीतिज्ञ था, किन्तु कमेटी का उसमें विश्वास नहीं था, इस कारण फरवरी १९०९ में उसे पद त्यागना पड़ा। तत्कालीन तरुण युवकों की सरकार से धर्माचार्य तथा सेना संतुष्ट नहीं थी। १३ अप्रैल १९०९ को मुल्लाओं और सैनिकों ने विद्रोह किया। कुरान का क़ानून देश में प्रचलित हो,

यंग-टर्क पार्टी तोड़ दी जावे, प्रधान मंत्री अहमद रिज़ा तथा प्रधान सेनापति को हटा दिया जावे, यह विद्रोहियों की मांगें थीं। पार्लियामेंट ने यह मांगें स्वीकार कर लीं। तरुण तुर्क नेता भाग कर मैसीडोनिया चले गये और अहरारों ने मंत्री-मंडल बनाया।

महमूद श्यूकत-पाशा ने मैसीडोनिया की सेना लेकर कांस्टेंटिनोपल पर आक्रमण कर दिया। बहुत कुछ प्रयत्न किया गया कि तरुण युवक राजधानी पर आक्रमण न करें किन्तु सब व्यर्थ हुआ। तरुण युवक नेता न माने। २५ अप्रेल को तरुण तुर्कों ने राजधानी पर अधिकार कर लिया। सड़कों और गलियों में युद्ध हुआ। तरुण क्रान्तिकारियों ने दृढ़ता-पूर्वक आक्रमण किया। युद्ध में बहुत से मुल्ला तथा धार्मिक विद्यालयों के विद्यार्थी मारे गये। २७ अप्रेल को सुल्तान अब्दुल हमीद सिंहासन से उतार दिया गया और उसे बंदी बनाकर सलोनिका भेज दिया गया। मुहम्मद पांचवां, गद्दी पर बैठा, तरुण तुर्क पार्टी ने अपने विरोधियों के साथ निर्दयता का व्यवहार किया। बहुत से धार्मिक विद्यार्थियों तथा सैनिकों को मरवा दिया गया।

उस दिन से टर्की में वैध शासन स्थापित हुआ। किन्तु यंग-टर्क पार्टी साम्राज्य को एक सूत्र में बांधकर रखने में सफल न हुई। टर्की साम्राज्य में जो अन्य जातियां रह रही थीं, वे ही राष्ट्रीय आन्दोलन का विरोध करती थीं। तरुण तुर्कों के सामने दो ही उपाय थे। या तो भिन्न-भिन्न प्रान्तों को, जिनमें भिन्न-भिन्न जातियों के

लोग रहते थे स्वतंत्रता दे, दें और उन्हें अपनी राष्ट्रीयता को उत्पन्न करने का अवसर दें, अथवा उन्हें बल-पूर्वक दबाकर एक दृढ़ तुर्क साम्राज्य का निर्माण करें। यंग-टर्क पार्टी ने दूसरा उपाय ठीक समझा, किन्तु उसकी असफलता अवश्यम्भावी थी।

सन् १९०८ से १९१८ तक यंग-टर्क पार्टी देश का शासन करती रही। १९११ में पार्टी-कांग्रेस ने शासन-सम्बन्धी निम्न लिखित घोषणा की:—"टर्की का प्रत्येक नागरिक स्वतंत्र है, उसके अधिकार और कर्तव्य एक हैं, क़ानून के सामने तुर्क सब एक से हैं उनमें कोई भेद नहीं माना जावेगा, राज्य की नौकरियों पर योग्यता और क्षमता के आधार पर ही नियुक्ति होगी। सर्व धर्मावलम्बियों को धार्मिक स्वतंत्रता रहेगी, विदेशियों को जो टर्की में विशेष सुविधाएं प्राप्त थीं, वे भविष्य में न रहेंगीं; प्रत्येक नागरिक के लिए सैनिक सेवा अनिवार्य होगी।" परन्तु कांग्रेस ने प्रान्तों को स्वराज्य देना अस्वीकार कर दिया।

इसी समय टर्की में पान-टर्किश अथवा पान-तूरानियन आन्दोलन की जड़ पड़ी। अभी तक तुर्क शब्द मुसलमानों के लिए व्यवहृत होता था और उसके अर्थ अशिक्षित अथवा किसान के समझे जाते थे। परन्तु बीसवीं शताब्दी में यह सब बदल गया। मुस्लिम धर्म द्वारा अन्य जातियों से तुर्कों का जो गठबंधन हो गया था, आदमी उसे कम महत्व देने लगे, और तुर्की भाषा बोलने वाली तुर्क उपजातियों से जो भिन्न-भिन्न देशों

में बसी हुई थीं, सम्पर्क बढ़ाने लगे। तुर्कों के प्राचीन इतिहास का फिर से पारायण होने लगा, और अपने गौरवपूर्ण अतीत इतिहास से वे अपने पूर्व वैभव को पहचानने लगे । पान-तूरा-नियन आन्दोलन को दो घटनाओं से और भी बल मिला। बाल-कन युद्ध में टर्की की पराजय हो जाने क कारण टर्की का सारा योरोपीय साम्राज्य छिन गया। उसको एशिया में खदेड़ दिया गया, इस से तुर्क नेताओं को काकेशस तथा रूसी तुर्किस्तान के तुर्कों के सम्पर्क में आने का अवसर मिला।

पान-तूरानियन की भावना रूसी तातारों में, जो क्रीमिया तथा वोलेगा के प्रदेशों में रहते थे, फैल चुकी थी । बहुत से रूसी तातार उन्नीसवीं शताब्दी में ही आकर टर्की में बस गये थे। इल्मिंसकी जो काज़ान के विद्यापीठ में अध्यापक था, तुर्की भाषा में से अरबी शब्दों को निकाल कर शुद्ध बनाने, तथा अरबी लिपि को छोड़ देने के पक्ष में था। उसने ही इस आन्दो-लन का सूत्रपात किया। इसका फल यह हुआ कि कमाल पाशा के नेतृत्व में तुर्की भाषा अरबी के प्रभाव से उन्मुक्त हो गई। इस्माइल-बे, तथा यूसुफ़-बे, जो कि रूसी तातार थे, उन्होंने भी तुर्की भाषा में पत्र निकाल कर इस आन्दोलन को आगे बढ़ाया। सन् १९११ में यूसुफ़-बे कांस्टेंटिनोपल आया और वहां से उसने एक पत्र निकाला, जो पान-तूरानियन आन्दोलन का प्रबल समर्थक था।

इधर सलोनिका के तरुण तुर्कों में भी पान-तूरानियन को

भावना जागृत हो चुकी थी। उनके पत्र ने इस बात का आन्दोलन करना आरम्भ किया कि हमें नवीन तुर्की साहित्य, तुर्की भाषा, तथा तुर्की सभ्यता का निर्माण करना चाहिए। फ़ारसी, अरबी के शब्दों तथा साहित्यिक सामग्री को हटाने और शुद्ध तुर्की शब्दों और तुर्की साहित्य को प्रोत्साहन देने के लिए उस पत्र ने खूब प्रचार किया। प्रसिद्ध तुर्की कवि तथा लेखकों की, जिनमें अरबी तथा फ़ारसी का प्रभाव था, प्रतिष्ठा कम होने लगी। यनीन लिसन (नवीन भाषा) यनी हयात (नव-जीवन) यनी फलसफे (नवीन दर्शन) इत्यादि संस्थाएँ स्थापित हो गईं, जो इन भावनाओं का प्रचार करने लगीं। श्रीमती हलीदा-हनूम ने इसी भावना को प्रोत्साहन देने के लिए अपना प्रसिद्ध राजनैतिक उपन्यास लिखा। उसके उपन्यास का नायक कोई इस्लाम का नेता न होकर, चंगेज़खां अथवा अटिला के समान वीर, किन्तु सभ्य कल्पित व्यक्ति है।

माता पिता ने अपने बच्चों के नाम भूले हुए तुर्की नामों पर रखना आरम्भ कर दिया। नवीन त्यौहार, जो कभी भी नहीं मनाये जाते थे, मनाये जाने लगे। कांस्टेंटिनोपल पर जिस दिन तुर्कों का अधिकार हुआ था, वह राष्ट्रीय त्यौहार के रूप में मनाया जाने लगा। हज़ारों की संख्या में लोग कांस्टेंटिनोपल के विजेता की समाधि पर अपनी श्रद्धांजलि चढ़ाने जाते थे। प्राचीन तातार नेताओं और वीरों के विषय में बहुत कुछ लिखा पढ़ा जाने लगा। तूरानियन आन्दोलन का प्रमुख नेता सिया-बे

ने अपनी कविताओं में लिखा "मैं अपने वीर पूर्वजों के कृत्यों को इतिहास के सूखे पन्नों में नहीं पढ़ता, किन्तु मुझे उनका आभास अपने शरीर में बहने वाले रक्त से मिलता है। मेरे अटिला, चंगेज़खां, और ओगस-खां सिकंदर और सीज़र से किसी भी दृष्टि में कम नहीं हैं। तुर्कों का पितृदेश टर्की अथवा तुर्किस्तान नहीं है, वरन सुदूर तूरान है।" समस्त टर्की में यह भावना उस समय कार्य कर रही थी। २५ मार्च १९१२ को सरकार ने तुर्क-ओजागी नामक संस्था को जन्म दिया; जिसका उद्देश्य तुर्कों की सामाजिक, बौद्धिक, आर्थिक उन्नति करना, तथा तुर्की भाषा को पूर्ण बनाना था। अभी तक टर्की का सारा व्यापार ग्रीक और आरमीनियन जाति के व्यापारियों के हाथ में था, किन्तु अब उनका बहिष्कार किया जाने लगा, और तुर्की सहकारी समितियां, तथा तुर्की बैंक स्थापित किये जाने लगे। राष्ट्रीयता की इन भावनाओं को लिए हुए तरुण तुर्क योरोपीय महायुद्ध में सम्मिलित हुए।

यह तो पूर्व ही कहा जा चुका है कि यंग-टर्क-पार्टी ने एक प्रबल टर्की साम्राज्य स्थापित करने का निश्चय कर लिया था। इसी उद्देश्य से उन्होंने उन जातियों को दबाया, जो टर्की साम्राज्य से पृथक् हो जाना चाहती थीं, अलबानिया, मैसोपोटैमिया और अन्य प्रदेशों के अरबों ने विद्रोह कर दिया। इस समय अरब, यूनानी, कुर्द, आरमीनियन, सीरियन, तथा अन्य जातियां आपस में मिल गईं। इस विद्रोह के ही कारण मैसेडोनिया में

तुर्की सेना अत्यन्त निर्बल हो गई, और बालकन राज्यों की विजय हुई। इसी समय बलगेरिया ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। क्रीट ग्रीस से मिल गया, आस्ट्रिया ने बोस्निया, तथा हर्जगाविना पर अधिकार कर लिया, और इटली ने ट्रिपोली को हड़प लिया।

आरम्भ में तुर्कों ने समझा था कि तुर्की प्रजा में राष्ट्रीय भावना उदय करके टर्की को शक्तिशाली साम्राज्य बना लेंगे, ऊपर लिखे प्रदेशों में तो अपना अधिकार दृढ़ कर ही लेंगे, वरन् यूनान और सायप्रेस पर पुनः अधिकार कर लेंगे। इसी उद्देश्य से उन्होंने अपने जीवन को जोखम में डालकर क्रान्ति की, किन्तु फल उलटा हुआ। उनके राजत्व काल में टर्की की राजकीय सीमा इतनी कम हो गई, जितनी कभी नहीं हुई थी। इसका कारण यह था कि टर्की में बसने वाली अन्य जातियों में टर्की-राष्ट्र के लिए प्रेम अथवा श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई थी, वे उससे पृथक् हो जाने की धुन में थे। किन्तु इससे एक बहुत बड़ा लाभ हुआ, योरोपीय राष्ट्रों के विरुद्ध तुर्कों में बहुत तीव्र घृणा के भाव उत्पन्न हो गये; तथा अन्य जातियों के राज्य से निकल जाने और केवल तुर्कों के रह जाने के कारण टर्की का संगठन राष्ट्रीयता के आधार पर हो गया।

यह तो पूर्व ही कहा जा चुका है कि तुर्की के नव जागरण काल में तुर्की भाषा का नवीन संस्करण तथा साहित्यिक क्रान्ति

हुई। नवीन राष्ट्रीयता की वृद्धि का प्रभाव धर्म और स्त्रियों पर भी पड़ा। धर्म के प्रति तुर्कों का एक नवीन दृष्टिकोण बन गया और महिला जागरण का युग आरम्भ हुआ। कुरान के सिद्धांतों की, नयी टर्की की राष्ट्रीयता के अनुसार, विवेचना की जाने लगी। कुरान के तुर्की भाषा में अनुवाद प्रकाशित किये गये, कहीं-कहीं शुक्रवार की नमाज़ में खुतबा अरबी में न पढ़ा जाकर तुर्की में पढ़ा जाने लगा। स्कूलों और कालेजों में जहां अब तक केवल शुद्ध धार्मिक शिक्षा दी जाती थी, वहां आधुनिक विषयों की शिक्षा दी जाने लगी। धार्मिक न्यायालय, शेख़-उल-इस्लाम के स्थान पर न्याय मंत्री के अधीन कर दिये गये।

वैसे तो स्त्रियों ने १६०८ की क्रान्ति में भी भाग लिया था, जब टर्की के इतिहास में प्रथम बार स्त्रियां हरम से निकल कर बाहर आई थीं, किन्तु अभी तक हरम का एकान्त जीवन तुर्की महिलाओं के लिए आवश्यक समझा जाता था। १६०८ की क्रान्ति के समय श्रीमती हलीदा-हनूम का अपने मुख पर पर्दा डालकर पुरुषों की सभा में भाषण करना एक महत्वपूर्ण घटना समझी जाती थी। किन्तु क्रमशः स्त्रियों के उद्धार का आन्दोलन बल पकड़ता गया। हलीदा-हनूम ने स्त्रियों के उद्धार के लिए एक समिति बनाई, जो पर्दे के विरुद्ध आन्दोलन करती थी। ओसमनाली महिला समिति, तुर्की महिलाओं के अधिकारों की रक्षा करने वाली कमेटी, इत्यादि संस्थाएँ इसी समय बनीं। इन संस्थाओं ने स्त्रियों के पत्र भी निकाले, जिनका सम्पादन

अधिकांश में महिलाएँ ही करती थीं। इस आन्दोलन का फल यह हुआ कि लड़कियों के लिए स्कूल खोले जाने लगे, और महिलाओं की शिक्षा के लिए आन्दोलन हुआ। १९१४ में इस्तम्बोल के विश्व-विद्यालय में स्त्रियों के लिए विशेष पाठ-विधि रखने का प्रबन्ध हुआ और ढाई सौ छात्राओं ने विश्व-विद्यालय में अपना नाम लिखाया। देखते-देखते कांस्टेंटिनोपल विश्व-विद्यालय में छात्राओं की संख्या इस शीघ्रता से बढ़ी कि विज्ञान विभाग में वह छात्रों की संख्या के बराबर हो गई। दर्शन विभाग में छात्राओं की संख्या, छात्रों की संख्या की २५ प्रति-शत थी। यही नहीं, क़ानून और चिकित्सा में भी लड़कियां शिक्षा प्राप्त करने लगीं।

यंग-टर्क पार्टी ने १९१३ में प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य तथा निश्शुल्क कर दी। महायुद्ध के आरम्भ तक राजकीय स्कूल तथा कालेजों के अतिरिक्त बहुत से ग़ैर-सरकारी स्कूल भी थे, जिन्हें अधिकांश में ईसाई पादरी चलाते थे। युद्ध के आरम्भ होते ही टर्की सरकार ने उन स्कूलों पर भी अपना अधिकार कर लिया, और भविष्य में विदेशियों द्वारा स्कूल खोले जाने का निषेध ही कर दिया।

टर्की के इस जागरण-काल में तुर्क पूर्व और पश्चिम के बीच में खड़े हुए यह सोच रहे थे कि वह किस ओर जावें। योरोप के के साम्राज्यवाद द्वारा कुचले जाने के कारण, वे एशिया और तूरान की ओर झुकते थे, किन्तु साथ ही वे यह भी जानते थे कि

टर्की को आधुनिक राष्ट्रों के समान सबल बनाने के लिए पश्चिमीय ढङ्ग को अपनाना होगा; अतएव वे पश्चिम की ओर भी झुकते थे। महायुद्ध के अन्त तक वे इसी उलझन में रहे, किन्तु जब अन्त में टर्की ने यूनान पर विजय प्राप्त करली तो टर्की ने इस प्रश्न का भी फैसला कर दिया। पान-इस्लाम, पान-तूरान, तथा एशियाईपन को अपनाने के भाव नष्ट हो गये, और टर्की बड़ी तेजी से अपने को पश्चिमीय रंग में रंगने लगा। इसका एक कारण यह भी था कि महायुद्ध में टर्की का साम्राज्य नष्ट हो गया, और शुद्ध टर्की राष्ट्र बच गया। वाह्य शक्ति और वैभव को खोकर टर्की राष्ट्र ने आन्तरिक शक्ति प्राप्त करली, और दृढ़ होकर वह उसे बढ़ाने में लग गया।

योरोपीय महायुद्ध के अन्तिम दिनों में सुलतान मुहम्मद पांचवें की मृत्यु हो गई और शहज़ादा वहीदुद्दीन सिंहासन पर बैठा। टर्की का पतन हुआ और ३० अक्तूबर १९३० को मुद्रोस की क्षणिक सन्धि हुई। तरुण युवक नेता अनवर, जमाल और तलात, जिन्होंने अभी तक टर्की के शासन-यन्त्र को चलाया था, देश छोड़ कर चले गये। अनवर तुर्किस्तान गया और वहां युद्ध में मारा गया। वह तूरान आन्दोलन का प्रबल समर्थक था, इसी कारण वह उधर गया था। जमाल अफ़गानिस्तान पहुंच गया, और वहां अमीर की सेना में नियुक्त होकर सैनिक संगठन करने लगा। तालात जर्मनी चला गया, जहां उसकी हत्या करदी गई। तरुण युवक नेताओं में साहस था

और बुद्धि थी, किन्तु उन्हें एक तो राजनैतिक अनुभव नहीं था, दूसरे उस समय योरोप की राजनैतिक स्थिति ऐसी भयावह हो उठी थी कि उन्हें सफलता न मिली। फिर भी यह तो प्रत्येक व्यक्ति को मानना ही होगा कि उन्होंने टर्की में राष्ट्रीयता उत्पन्न करने का जो प्रयत्न किया था, उसी के फल-स्वरूप अता-तुर्क कमाल पाशा को सफलता प्राप्त हुई।

१६१६ में फ़रीद पाशा प्रधान मंत्री बना। नवीन मंत्रि मंडल अंग्रेज़ों के पक्षपातियों का था, अतएव वह अंग्रेज़ों के इशारे पर काम करने लगा। इस समय योरोप के रंग-मंच पर घटनाएं बड़ी तेज़ी से घट रही थीं। महायुद्ध के उपरान्त टर्की की जो दयनीय दशा हो गई, और अन्त में जो राष्ट्रीयता का ज्वालामुखी फूटा उसको ठीक ठीक समझने के लिए तत्कालीन योरोप की राजनैतिक हलचलों को समझ लेना आवश्यक है।

बहुत दिनों से यूनानी राष्ट्रवादियों की यह आन्तरिक अभिलाषा थी कि क्रीट, एजिन द्वीप-समूह, तथा टर्की साम्राज्य के यूनानी प्रान्त, टर्की साम्राज्य के पंजे से निकल कर अपने पितृ-देश के साथ मिल जावें। यूनानियों की, केवल यूनानी प्रान्तों को ही छीन लेने की अभिलाषा नहीं थी, वरन् प्राचीन समय में यूनानी सभ्यता के केन्द्र बैज़ेंटियम तथा आयोना जो एशिया-मायनर में स्थित हैं, उन्हें भी ग्रीस के राष्ट्रीय नेता एक बार फिर अपने अधिकार में लाना चाहते थे।

चतुर बेनीज़ैलो, जिसने अपनी मातृभूमि क्रीट को टर्की की

अधीनता से मुक्त करने के लिए कई बार विद्रोह किया था, अब यूनान का प्रधान मंत्री बन गया था। बालकन युद्ध का होना, सर्विया, बलगेरिया, इत्यादि बालकन राज्यों का गुप्त रूप से संगठन करना, और टर्की को योरोप से खदेड़ कर बाहर कर देना—राजनीतिज्ञ बेनीज़ैलो का ही काम था। बालकन युद्ध के उपरान्त बलगेरिया लूट के हिस्से को यथेष्ट न समझकर असंतुष्ट हो गया और मित्र-राष्ट्रों से ही भिड़ गया। फिर समझौता सम्मेलन हुए, बेनीज़ैलो ने इन सम्मेलनों में, अपनी योग्यता और राजनीतिज्ञता के द्वारा यूनान के लिए वह प्रदेश भी प्राप्त कर लिए, जो जीते नहीं गये थे। क्रीट, मैसीडोनिया का बड़ा भाग, सलोनिका, थ्रेस, सवाला, टाबक, इपरिस तथा अन्य बहुत से द्वीप यूनान को मिल गये। इसके कुछ समय उपरान्त ही महायुद्ध छिड़ा। सम्राट कांस्टेंटाइन योरोपीय महायुद्ध में तटस्थ रहना चाहता था, किन्तु बेनीज़ैलो इङ्गलैंड का साथ देने के पक्ष में था। उसको अपने बचपन से टर्की के अत्याचारों और दमन का सामना करना पड़ा था, अतएव वह हृदय से टर्की का शत्रु था। उसने बदला लेने का यह अच्छा अवसर देखा। मित्र-राष्ट्रों की सहायता से इस बार वह टर्की को कुचल डालना चाहता था। कांस्टेंटाइन जर्मनी के बैरियों से किसी प्रकार भी सम्पर्क नहीं रखना चाहता था। फल यह हुआ कि सन् १९१७ में सम्राट को सिंहासन छोड़ना पड़ा, और बेनीज़ैलो ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध घोषणा कर दी।

योरोपीय महायुद्ध समाप्त हुआ। संधि-सम्मेलन में वेनीजैलो ने यूनान के पक्ष की ऐसी योग्यता-पूर्वक पैरवी की कि यूनान को आशा से अधिक मिल गया। किन्तु वेनीजैलो एशिया माइनर पर भी यूनान का अधिकार चाहता था। लायड जार्ज, लार्ड बरकनहैड, तथा चर्चिल यह नहीं चाहते थे कि एशिया-मायनर किसी प्रबल योरोपीय शक्ति के हाथ में चला जावे, क्योंकि उससे भविष्य में उनके पूर्वीय साम्राज्य के स्थल-मार्ग में रुकावट पड़ सकती थी। साथ ही वे टर्की के अधिकार में भी उस प्रदेश को देखना नहीं चाहते थे। ब्रिटेन, जो कांस्टैंटिनोपिल के दक्षिण के एशियाई प्रदेश पर, और मैसोपोटैमिया तथा फ़ारस की तेल की खानों पर अधिकार जमाना चाहता था, उसको यूनान ही कम खतरनाक सहयोगी मिल सकता था। इसके अतिरिक्त प्रसिद्ध यूनानी व्यवसायियों, ब्रिटिश-सरकार, तथा ब्रिटिश व्यवसायियों के स्वार्थ भी ब्रिटिश आयल (तेल) कंपनी के कारण इस संबंध में एक थे। यही कारण था कि लायड जार्ज ने वैनीजैलो से एशिया मायनर पर चुपके से अधिकार कर लेने को कहा। वैनीजैलो ने फ्रांस तथा इटली की भी सहानुभूति प्राप्त करली और यूनान की सेनाएं स्मर्ना में उतर गईं। ९ मई १९१९ को कांस्टैंटिनोपल-स्थित यूनानियों के धार्मिक तथा राजनैतिक नेता ग्रीक पादरी ने घोषणा करदी कि हम यूनान निवासी अब टर्की की अधीनता को स्वीकार नहीं करते, और अपने को टर्की से पृथक् करते हैं।

तुर्कों ने देखा कि अंग्रेज और यूनान टर्की के अस्तित्व को नष्ट कर देने पर तुले हुए हैं। तरुण तुर्क अपनी मातृ-भूमि को इस प्रकार पद-दलित होते कैसे देख सकते थे। मुस्तफ़ा कमाल के नेतृत्व में देश-भक्त युवक संगठित हुए और उन्होंने टर्की की रक्षा का निश्चय कर लिया। १३ जुलाई से ७ अगस्त तक मुस्तफ़ा कमाल के सभापतित्व में राष्ट्रीय कांग्रेस की प्रथम बैठक हुई। ६ सितम्बर को कांग्रेस ने निम्न लिखित घोषणा की, "३० अक्तूबर १९१८ की संधि के अनुसार ब्रिटेन और मित्र-राष्ट्रों ने टर्की की जो सीमाएं स्वीकार करली हैं, और जितने प्रदेश में अधिकांश तुर्कों की जन-संख्या निवास करती है, वह एक देश रहेगा, हम उसका विभाजन स्वीकार नहीं कर सकते। हम अपने देश का यूनानियों के द्वारा इस प्रकार हड़प लिया जाना कभी भी स्वीकार नहीं करेंगे।"

अप्रैल १९१९ में कांस्टेंटिनोपल की सरकार ने मुस्तफ़ा कमाल को, अंग्रेजों की अनुमति से अनैटोलिया में सैनिक निरीक्षक बना कर भेजा। मुस्तफ़ा का जन्म-स्थान सलोनिका था। महायुद्ध में एक सेना-नायक की हैसियत से उसने अच्छी ख्याति प्राप्त की थी, किन्तु तत्कालीन यंग टर्क पार्टी के नेताओं से, जिनके हाथ में उस समय देश का शासन-सूत्र था, उसका मत-भेद हो गया। इस कारण उसे सैनिक सेवा से हटना पड़ा था। अनैटोलिया में जाकर मुस्तफ़ा कमाल ने राष्ट्रीयता के भावों से ओत-प्रोत

सैनिकों और युवकों का गुप्त रूप से संगठन किया और स्वदेश-रक्षा के लिए कटिबद्ध हो गया।

अक्तूबर में फरीद ने पद त्याग दिया और रिज़ा प्रधान मंत्री बना। पार्लियामेंट का चुनाव हुआ और ११ जनवरी १६२० को नवीन पार्लियामेंट की बैठक हुई। फरवरी में लार्ड बैलफोर का वह गुप्त मसविदा, जो एशिया-मायनर को बांटने के सम्बन्ध में था, प्रकाशित हो गया। इसके कारण टर्की के देश-भक्तों में बड़ी उत्तेजना फैल गई। टर्की की पार्लियामेंट ने मुस्ताफा कमाल द्वारा संचालित अनैटोलिया के राष्ट्रीय आन्दोलन से सहानुभूति प्रकट की और टर्किश नेशनल पैक्ट पर हस्ताक्षर कर दिये। मार्च १६२० में मित्र-राष्ट्रों की सेनाओं ने कांस्टैंटिनोपल पर अधिकार कर लिया, और, बहुत से प्रमुख तुर्क पत्रकारों तथा राजनीतिज्ञों को पकड़ कर माल्टा भेज दिया गया। अंग्रेज़ों के चाटुकार फरीद को फिर प्रधान मंत्री बनाया गया। अप्रैल में मुस्तफा कमाल तथा अनैटोलियन आन्दोलन-कर्त्ता विद्रोही घोषित कर दिये गये और पार्लियामेंट तोड़ दी गई। पार्लियामेंट के अधिकांश सदस्य भाग कर मुस्तफा कमाल के केन्द्र अंगोरा को चले गये, और वहां पार्लियामेंट की बैठक हुई। अंग्रेज़ी पत्रों ने सदा की भांति अगोरा के तुर्कों तथा कमाल को डाकू और लुटेरे कहकर बदनाम करना आरम्भ कर दिया।

अप्रैल १६२० में मित्र-राष्ट्रों ने सैन-रैम्यो नामक स्थान पर

एकत्रित होकर टर्की के साथ की जाने वाली संधि की शर्तों पर विचार किया। तदनुसार सैव्रे की संधि हुई। इसके अनुसार योरोप में केवल कांस्टैंटिनोपल टर्की के पास रहा। आरमीनियन तथा कुर्द, ये दो स्वंतत्र राज्य स्थापित किये जानेका निश्चय हुआ। बचे हुये टर्की प्रदेश में से एक भाग, जिसे यूनानने विजय कर लिया था, यूनान को दे दिया गया; और शेष भाग इङ्गलैंड, फ्रांस, और इटली, के प्रभाव-क्षेत्र निर्धारित किये गये। इस अपमान-जनक संधि को कांस्टैंटिनोपल की कठपुतली सरकार भी मानने को तैयार नहीं थी। इस पर मित्र-राष्ट्रों ने यूनानी सेना को थ्रेस, ऐड्रियानोपल, तथा एशिया-मायनर के शेष प्रदेश पर भी अधिकार कर लेने की आज्ञा दे दी। हताश होकर कांस्टैंटिनोपल की सरकार ने संधि पर हस्ताक्षर कर दिये।

इधर अंगोरा में विरोधियों का सङ्गठन हो रहा था। एशिया-मायनर के प्रान्तों में शीघ्र ही चुनाव किये गये और कांस्टैंटिनोपल से भाग कर आये हुए पार्लियामेंट के अस्सी सदस्यों को लेकर २३ अप्रैल को सब प्रतिनिधि इकट्ठे हुए। कमाल पाशा नेशनल एसैम्बली के सभापति चुने गये। इस एसैम्बली ने कांस्टैंटिनोपल-सरकार तथा उसके कार्यों को अनियमित घोषित कर दिया। १६ मार्च १९२० को मित्र-राष्ट्रों ने राजधानी पर अधिकार कर लिया था, और वहां की सरकार तुर्कों के प्रतिनिधियों की न होकर अंग्रेजों के खरीदे हुए व्यक्तियों

की थी, अतएव अंगोरा की नेशनल एसेम्बली ने सेवेरे की सन्धि को भी अस्वीकार कर दिया।

नेशनल एसैम्बली ने मुस्तफ़ा कमाल को राष्ट्रीय सेना का सेनापति नियुक्त किया, और टर्की पर उस समय तक शासन करने का निश्चय कर लिया, जब तक कि ख़लीफ़ा सुलतान, और राजधानी पर विदेशियों का अधिकार रहे। ग्रांड-नेशनल-एसैम्बली ने २० जनवरी १६२१ को एक घोषणा-पत्र स्वीकार किया, जिसके अनुसार टर्की का प्रभुत्व तुर्कों के अधिकार में रहे और ग्रांड नेशनल एसैम्बली तुर्क जनता की प्रतिनिधि होने के कारण, टर्की का शासन करे। एसैम्बली के सदस्यों का चुनाव चार वर्ष के लिए हो, और १८ वर्ष से अधिक आयु वाले प्रत्येक व्यक्ति को वोट देने का अधिकार हो। शासन-कार्य को चलाने का अधिकार प्रेसीडेंट तथा मंत्रि मंडल को दिया गया और न्यायाधीशों को नियुक्त करने का अधिकार एसैम्बली के हाथ में रहा। शासन-विधान में बहुत से सामाजिक सुधारों की भी घोषणा की गई।

इधर एसैम्बली विधान बना रही थी, उधर कमाल ने अपनी सेनाएं लेकर विदेशी सैनिकों को टर्की से खदेड़ना आरम्भ किया। सितम्बर १६२० को रूस ने टर्की की राष्ट्रीय सरकार को स्वीकार कर लिया और उससे संधि करली। अपनी स्थिति को दृढ़ करके कमाल ने नव-निर्मित आरमीनिया राज्य पर आक्रमण

कर दिया। आरमीनियन प्रजातंत्र की सेनाएं बुरी तरह हारीं, और कमाल ने उन प्रान्तों को टर्की में मिला लिया। अभी तक यूनान की सेना अंग्रेजी जहाज़ी बेड़ों की सहायता से विजयी हो रही थी, उन्होंने राष्ट्रीय सेनाओं को थ्रूस से निकाल कर बाहर कर दिया। उशाक नामक स्थान तक वे बढ़ आये थे। किन्तु इसी समय राजनैतिक रंग मंच पर कुछ ऐसे परिवर्तन हुए कि टर्की को स्वर्ण-अवसर मिल गया। वैनीज़ैलो, जिसकी इन प्रान्तों को छीन लेने की उत्कट अभिलाषा थी और जिसकी राजनैतिक चातुरी का ही यह परिणाम था कि मित्र-राष्ट्र यूनान के सहायक बने हुए थे, नवम्बर १६२० के चुनाव में हार गया। निर्वासित सम्राट कॉंस्टैंटाइन फिर देश में आया, और वैनीज़ैलो एक अंग्रेजी जहाज़ पर सवार होकर, देश छोड़ कर चला गया। इस परिवर्तन का फल यह हुआ कि ब्रिटेन शिथिल तथा उदासीन हो गया, फ्रांस तो प्रकट रूप में टर्की का पक्ष समर्थन करने लगा। फ्रांस ब्रिटिश नीति से भी असंतुष्ट हो उठा था। सिसली में राष्ट्रीय तुर्क सेनाओं ने फ्रैंच सेना को परास्त कर दिया था, इस लिए भी फ्रांस इस ओर से निराश सा होगया। इटली, जो स्वयं स्मर्ना को हथियाना चाहता था, यूनान के प्रयत्नों से प्रसन्न नहीं था। इन्हीं कारणों से फरवरी १६२१ में मित्र-राष्ट्रों ने लंदन में एक सम्मेलन सैवरे की संधि का संशोधन करने के लिए बुलाया। अंगोरा सरकार के प्रतिनिधि बकिरसामी ने सम्मेलन के सामने बहुत ही न्यायोचित मांग रक्खी। उसने

एड्रियानोपल को छोड़ देना, तथा स्मर्ना को एक ईसाई गवर्नर की अधीनता में बहुत कुछ आन्तरिक स्वतंत्रता देना स्वीकार कर लिया। किन्तु यूनान किसी भी प्रकार स्मर्ना को छोड़ने पर राजी न हुआ। इस पर मई १९२१ में मित्र-राष्ट्रों ने यूनान-टर्की युद्ध में अपनी निरपेक्षता घोषित करदी।

इस लिए एथिंस सरकार ने अपने बल पर ही सैवरे की संधि को कार्य-रूप में परिणत करने का निश्चय किया। जुलाई १९२१ में यूनानी सेनाएं आगे बढ़ीं और अंगोरा के समीप पहुंच गईं। अंगोरा सरकार ने बहुत प्रयत्न किया कि शान्ति हो जावे, लंदन को शान्ति-दूत भेजे गये, किन्तु कोई फल नहीं हुआ। लायड जार्ज टर्की का नाश देखने पर तुले हुए थे। सकारिया से यूनानी सेनाओं को आगे बढ़ने देना, देश के अस्तित्व को मिटा देना था। कमाल की सेना के पास यथेष्ठ युद्ध-सामग्री नहीं थी, किन्तु देश-प्रेम से मतवाले तुर्कों ने यूनान की सेनाओं को सकारिया पर रोकने में अद्भुत वीरता प्रदर्शित की। संख्या में यूनानी सेना तिगुनी थी तथापि उनकी पराजय हुई। इस अभूत-पूर्व विजय के उपरान्त कमाल ने यनानी सेना को खदेड़ना आरम्भ किया। १९२२ के सितम्बर मास में यूनानी सेनाओं को स्मर्ना भी छोड़ देना पड़ा।

मुस्तफ़ा कमाल अपनी इस विजय पर से उत्साहित होकर दरेदानियाल के मुहानों को पार करके थ्रेस से यूनानी सेनाओं

को निकाल बाहर करने का विचार करने लगा। इस पर लायड जार्ज ने आपत्ति की। १९२१ में जब मित्र-राष्ट्रों ने अपनी निरपक्षता घोषित की थी, उस समय यह तय हो गया था कि दरेदानियाल के दोनों ओर का प्रदेश असैनिक प्रदेश समझा जावेगा और उसमें युद्ध न होगा। लायड जार्ज ने टर्की को थ्रेस में यूनान से इसी आधार पर न लड़ने को कहा था। किन्तु फ्रांस और इटली ने ब्रिटिश प्रधान मंत्री का समर्थन तक नहीं किया। २० अक्तूबर १९२१ को फ्रांस ने अंगोरा-सरकार से संधि करली, सिसली टर्की को दे दी, और सीरिया की सीमा का प्रश्न भी टर्की के पक्ष में तय कर दिया। इसके बदले में टर्की ने फ्रेंच व्यवसायियों को खनिज पदार्थ निकालने के लिए विशेष सुविधाएं देने तथा बगदाद रेलवे के कुछ भाग को पट्टे पर देदेने के विषय में विचार करने का वचन दिया। टर्की ने इटली से भी, १९२२ में उसी प्रकार की संधि करली। अतएव ब्रिटेन अब अकेला पड़ गया, और लायड जार्ज ने बहुत सी सेना भेज दी। ऐसा प्रतीत होता था कि टर्की और ब्रिटेन का युद्ध अवश्यम्भावी है।

किन्तु ब्रिटिश सेनापति के समझाने पर कमाल ने दूरदर्शिता से इस प्रश्न का निपटारा, एक कमीशन के द्वारा, करवा लेना स्वीकार कर लिया। यूनानी सेनाओं को थ्रेस खाली कर देने और उसे टर्की को वापस कर देने की आज्ञा हुई और लूसेन में सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन के पूर्व १ नवम्बर १९२२

को ग्रांड-नेशनल-एसैम्बली ने सुलतान मुहम्मद पांचवे को सिंहासन से उतार दिया।

११ अक्तूबर को मुदानिया की क्षणिक संधि हुई, और १६ अक्तूबर को अंगोरा सरकार ने कांस्टेंटिनोपल पर अधिकार कर लिया। १ नवम्बर को टर्की प्रजातंत्र राज्य घोषित कर दिया गया। १७ नवम्बर को सुलतान मुहम्मद पांचवां, जिसने देश के साथ विश्वास-घात किया था, अंग्रेज़ी जहाज़ के द्वारा भागकर मालटा चला गया। १६ नवम्बर को ग्रांड-नेशनल-एसैम्बली ने अब्दुल मजीद को खलीफ़ा घोषित कर दिया। यह ध्यान में रखने की बात है कि नवीन खलीफा के राजनैतिक अधिकार बिलकुल नहीं थे। लूसेन सम्मेलन के फल-स्वरूप २४ जुलाई १६२३ को एक संधि होगई। इस संधि के द्वारा, टर्की जो चाहता था, वह सब उसको मिल गया। नवीन टर्की ओटोमन साम्राज्य से बहुत शक्तिशाली हो गया। विदेशियों के विशेष अधिकार (Capitulations) नहीं रहे, और टर्की को अपने आन्तरिक अथवा बाह्य मामलों में अन्य योरोपीय राष्ट्रों की समानता प्राप्त हो गई।

टर्की तथा यूनान दोनों ही सरकारें चाहती थीं कि उनके राज्य में से दूसरी जातियों के लोग चले जावें। अस्तु, लूसेन सम्मेलन में समझौता भी हो गया कि यूनान में निवास करने वाले तुर्कों को टर्की में रहने वाले यूनानियों से बदल दिया

जावे। डाक्टर नानसेन ने इस समस्या को हल करने में बहुत सहायता दी। किन्तु जब इस जन-संख्या का देश-परिवर्तन हुआ तो देश छोड़ने वालों को बहुत कष्ट और क्षति उठानी पड़ी। कभी कभी यह निश्चय करना कठिन हो जाता था कि अमुक कुटुम्ब तुर्क है अथवा यूनानी है; बहुत से तुर्क जो यूनान में बसे हुये थे, तुर्की भाषा को समझते ही न थे, और बहुत से टर्की निवासी यूनानी भाषा से नितान्त अनभिज्ञ थे। इस पर अधिकारियों के अत्याचार तथा कुप्रबंध के कारण उन अभागे तुर्क और यूनानियों को अत्यन्त कष्ट उठाना पड़ा। सब मिल कर लगभग दस लाख मनुष्य यूनान को, तथा चार लाख मनुष्य टर्की को भेजे गये। यूनान प्रवासियों के कष्ट अमरीकन तथा राष्ट्र-संघ की रिलीफ (कष्ट-निवारण) कमेटियां की सहायता से कुछ कम हो गये। इस जन-संख्या के परिवर्तन से संपत्ति के संबंध में जो झगड़े हुए, उनके कारण दोनों देशों में तनातनी बनी रही; किन्तु १९३० में, संधि हो गई।

अब टर्की में केवल कुर्द लोग ही ऐसे रह गये जो तुर्क नहीं थे। कुर्द बर्बर जाति है, और उसने सुलतान खलीफा के समय में भी कभी कांस्टैंटिनोपल को सरकार को चैन नहीं लेने दी। सैवरे की संधि के अनुसार उन्हें स्वतंत्रता मिल जाती, किन्तु लूसेन संधि ने उस आशा पर पानी फेर दिया। अस्तु, फरवरी १९२५ में कुर्दिस्तान में विद्रोह उठ खड़ा हुआ, जिसे टर्की सरकार ने निर्दयता-पूर्वक दबा दिया। [१९३० में कुर्द जाति ने फिर

विद्रोह किया।] १९२५ के विद्रोह में मुस्तफा कमाल ने बड़ी कड़ाई से काम लिया, विद्रोही नेताओं को फांसी दे दी गई। यह विद्रोह टर्की की राष्ट्रीय सरकार के विरूद्ध था। प्रजातंत्री सरकार की प्रगतिशील नीति तथा टर्की को योरो-पियन रंग देने का निश्चय देख कर शक्तिशाली दरवेशों तथा धर्माचार्यों ने कुर्द नेताओं को सहायता पहुंचाई और उन्हें विद्रोह के लिए उभाड़ दिया। १९०० में कुर्दिस्तान के राष्ट्रीय आन्दोलन को जन्म देने वाला बदरखां था, उसके उपरान्त उसका पुत्र मिहदत-बे इस आन्दोलन को चलाता रहा, उसके प्रयत्न से ही "कुर्दिस्तान" नामक राजनैतिक संस्था का जन्म हुआ। उस समय यंग-टर्क पार्टी ने आन्दोलन दबा दिया था, किन्तु इस बार कुर्दों ने कट्टर मुल्लाओं और दरवेशों की सहायता से संगठित विद्रोह किया था।

मुस्तफा कमाल ने इस अवसर का उपयोग करके ३ सितम्बर १९२५ को नियम बनाकर मुसलमानी टक्के अर्थात मठ तोड़ दिये और दरवेश, शेख तथा अन्य धार्मिक पदवियां और पद उठा दिये। इन धर्माचार्यों को आज्ञा दे दी गई कि वे अपने विशेष वस्त्र न पहना करें। कमाल पाशा इन धर्माचार्यों की शक्ति को नष्ट करने पर तुले हुए थे क्यों कि वे जानते थे कि बिना ऐसा किये राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता। उस ने देखा कि यद्यपि खलीफा के पास कोई राजनैतिक अधिकार नहीं है

परन्तु भक्त मुसलमान उसे पूर्व रूप में ही देखते हैं, जो कि राष्ट्रीयता के विकास में बाधक है। अतएव ३ मार्च १६२४ को एसैम्बली ने खिलाफत तोड़ दी, और शाही खानदान के लोगों को निर्वसित कर दिया।

मुस्तफा कमाल का यह नियम रहा है कि उसने देश पर एक-साथ वहुत से सुधार नहीं लादे। १६२८ तक इस्लाम राजकीय धर्म माना जाता था किन्तु उस वर्ष एसैम्बली ने एक ऐक्ट पास करके इस्लाम को राजकीय धर्म मानना बंद करदिया। मसजिदों में जाते समय जूते उतारना अब आवश्यक नहीं रहा, नमाज़ के समय गाना बजाना होने लगा। कमाल पाशा ने उन प्रतिक्रियावादियों का घोर दमन किया, जो टर्की के नव-निर्माण में बाधक होते थे। दिसम्बर १६२३ में कांस्टैंटिनोपल के तीन प्रमुख पत्रों को जब्त कर लिया गया, क्योंकि उन्होंने दो भारतीय मुसलमानों—अमीर-अली तथा आग़ा खां का इस आशय का पत्र प्रकाशित कर दिया कि तत्कालीन टर्की सरकार का धार्मिक संस्थाओं के प्रति विरोधी भाव अन्य देशों के मुसलमानों पर बुरा प्रभाव डाल रहा है।

कमाल पाशा ने दृढ़-प्रतिज्ञ होकर टर्की को आधुनिक राष्ट्र बनाने का काम अपने हाथ में लिया। राज्य-कर्मचारियों को योरोपियन पोशाक पहिनने, मृत सुलतानों के मकबरों को प्रजा के लिए बन्द कर देने, रमज़ान के रोज़े बंद करने, और नमाज़

के समय झुक कर न लेटने की आज्ञा दे दी गई, बहुत-सी रस्में बंद करदी गईं, शुक्र को सार्वजनिक छुट्टी न देकर राज्य ने रविवार को छुट्टी देना आरम्भ किया गया, और हिजरी संवत का उपयोग छोड़ दिया गया। यही नहीं, कुरान तथा नमाज़ तुर्की भाषा में पढ़ी जाने लगी। जिन लोगों को राज्य आज्ञा दे, वेही भविष्य में धार्मिक उपदेश दे सकते थे। दाढ़ी रखने की मनाही कर दी गई। इस्लाम के धार्मिक विश्वासों के विरुद्ध, कमाल की प्रस्तर-मूर्ति खड़ी की गई।

तुर्की महिलाओं की स्थिति में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गये। १६२५ में बहु-विवाह प्रथा नष्ट कर दी गई, विवाहों की रजिस्ट्री आवश्यक हो गई, और प्रेसीडैंट को यह अधिकार दे-दिया गया कि वह किसी भी स्त्री या पुरुष को तलाक़ की अनुमति दे। प्रेसीडैंट कमाल ने सर्व-प्रथम अपनी पत्नी लतीफ़ा हनूम से विवाह-विच्छेद करके उस अधिकार का उपयोग किया। लड़की की आयु विवाह के समय १७ वर्ष, और लड़कों की १८ वर्ष रक्खी गई। बुर्क़ा ओढ़ना अनावश्यक कर दिया गया। हां, जो स्त्री चाहे वह ओढ़ सकती थी। स्त्रियों को सब धन्धों में प्रवेश करने की स्वतंत्रता मिल गई। १६२६ में तुर्की महिलाओं को म्यूनिसिपैलिटी के चुनावों में मताधिकार मिला और उसी वर्ष स्त्रियां जज नियुक्त की गईं। १६३३ में इस्तम्बोल विश्व-विद्यालय में महिला प्रोफेसर नियुक्त की गईं। १६३४ में

महिलाओं को एसैम्बली के चुनावों में उम्मीदवार खड़े होने, तथा मताधिकार देने का अधिकार दे दिया गया।

शरियत का क़ानून हटा दिया गया। १९२६ में स्वीटज़रलैंड, इटली और जर्मनी के क़ानूनों के आधार पर, माल, फ़ौजदारी तथा व्यापारी क़ानून बनाये गये। शिक्षा की आश्चर्यजनक उन्नति की गई। स्कूलों की संख्या दुगनी से भी अधिक हो गई, किन्तु धन और शिक्षकों की कमी के कारण अभी भी लगभग ४० प्रति शत जन संख्या अशिक्षित है। अरबी लिपि को उठा दिया गया, और उसके स्थान पर लेटिन लिपि चलाई गई। १ जनवरी १९२९ के उपरान्त अरबी लिपि में लिखी हुई पुस्तकें ज़ब्त करली गईं। १९३४ में फैज़ टोपी (तुर्की टोपी) पहिनना जुर्म बना दिया गया; और धर्माचार्यों को केवल नमाज़ के समय अपने धार्मिक वस्त्र पहिनने की आज्ञा दी गई; सर्वदा धार्मिक वस्त्र पहिनने से जनता में उन लोगों के प्रति एक झूठी श्रद्धा उत्पन्न हो जाने का भय था।

उद्योग-धन्धों और व्यापार में भी टर्की ने इन थोड़े से वर्षों में आश्चर्य-जनक उन्नति करली। प्रजातंत्र की स्थापना के पूर्व व्यापार धंधे यूनानी, यहूदी अथवा आरमीनियन जातियों के हाथमें थे। किंतु प्रजातंत्रकी स्थापना होतेही इस दिशा में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। राष्ट्रवादी तुर्क, उद्योग धन्धों में भी तुर्की पूँजी, तुर्की श्रम, तथा तुर्की संगठन को देखना चाहते

थे। किन्तु औद्योगिक क्रान्ति के लिए साधन नहीं थे, कठिनाइयां बहुत थीं। क्रमशः आर्थिक कारणों से तुर्कों के मध्य वर्ग ने व्यापार तथा धंधों को अपनाना आरम्भ कर दिया। इस वर्ग में, अधिकांश में वे तुर्क थे जो यूनान से आये थे। प्रजातंत्री सरकार ने कृषि की उन्नति का भी प्रशंसनीय प्रयत्न किया। विशेष रूप से अनेटोलिया प्रान्त में कृषि की खूब उन्नति हुई है। सरकार ने सोवियट रूस, संयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन, इटली से व्यापारिक संधियां करली हैं। कृषि, व्यापार, धंधों तथा समुद्री यातायात की उन्नति करने के लिए विशेष सरकारी विभाग स्थापित किये गये हैं। राज्य की ओर से परिश्रमी किसानों को बैल, हल, तथा घोड़े बिना मूल्य दिये गये हैं। अता-तुर्क कमाल का निज का एक फार्म है, जहां वह स्वयं खेती बारी करता है।

अक्तूबर १९२९ में राज्य ने उद्योग-धंधों को संरक्षण प्रदान किया और क्रमशः सूती कपड़े, शक्कर, तथा लकड़ी के कारखाने खोले गये। रेलवे लाइनों का भी खूब विस्तार किया गया। अमरीका के विशेषज्ञ बुलाकर टर्की के प्राकृतिक साधनों की जांच कराई गई है और औद्योगिक उन्नति की एक वृहद योजना बन रही है। बहुत से धंधों पर राज्य ने एकाधिपत्य कर लिया है। १९३४ में सरकार ने खनिज पदार्थों के निकालने तथा उद्योग धंधों की उन्नति करने के लिए एक पंच-वर्षीय योजना स्वीकार की। उसी वर्ष यह भी घोषणा की गई कि अब विदेशी

कंपनियों की कोई व्यवसायिक सुविधाएँ न दी जावेंगी। १६३४ में ही सरकार ने एक कानून बनाकर विदेशियों को, किसी पेशे, धंधे, अथवा नौकरी में रहसकने की मनाही करदो। इसका फल यह हुआ कि कुछ विदेशी तो टर्की छोड़ कर चले गये और बहुत से वहां के नागरिक बन गये।

यह सब कुछ होने पर भी टर्की की आर्थिक स्थिति अभी पूर्ण रूप से संभली नहीं है। अधिकांश प्रजा के आलसी होने के कारण, तथा विदेशी बैंकों से पूँजी उधार लेने में राज्य के भय-भीत होने के कारण, अभी टर्की की औद्योगिक उन्नति में समय लगेगा। हां, कमाल इस ओर प्रयत्नशील है, अभी हाल में ही उसने कृषि की एक पंच-वर्षीय योजना की स्वीकृति दी है।

कमाल सर्व सम्मति से एक नवम्बर १६२३ को प्रेसीडेंट चुना गया था, वह प्रत्येक चार वर्षों के उपरान्त प्रेसीडेंट चुना गया। क्रमशः कमाल टर्की का अधिनायक बन गया, और उसने दृढ़-प्रतिज्ञ होकर टर्की को पूर्वीय देश से पश्चिमीय देश में परिणित कर दिया। कमाल ने टर्की में नेशनेलिस्ट पीपल्स-पार्टी (राष्ट्रीय प्रजा-पार्टी) के अतिरिक्त, जिसका कि वह सभापति है, किसी अन्य पार्टी को पनपने ही नहीं दिया। १६२७ में इस पार्टी ने प्रेसीडेंट कमाल को यह अधिकार दे दिया कि एसैम्बली के चुनाव के लिए वह पार्टी के उम्मीदवारों को मनो-नीत कर दिया करें। इसका फल यह होता है कि पार्टी के उम्मीदवार

कमाल के विश्वासपात्र होते हैं, और चुनाव में अधिकांश राष्ट्रीय प्रजा-पार्टी के उम्मीदवार ही विजयी होते हैं। १६२५ के चुनाव में ३६६ सदस्यों में से २६७ सदस्य राष्ट्रीय प्रजा-पार्टी के थे, जिनको कमाल ने मनोनीत किया था। अस्तु, ग्रांड नेशनल एसैम्बली, जिसके हाथ में टर्की का शासन-सूत्र है, कमाल के हाथ में है, और वह देश की सर्वेसर्वा है। मुस्तफ़ा कमाल इसको आवश्यक समझते हैं। एक बार भाषण देते हुए उन्होंने कहा था, देश को इस समय एकता की आवश्यकता है, विरोधी सिद्धान्तों तथा विरोधी दलों की आवश्यकता नहीं है।

इससे यह न समझ लेना चाहिए कि देश में मुस्तफ़ा कमाल का विरोध नहीं है। कई बार कमाल की हत्या करने, तथा प्रजा-तंत्र सरकार को उलट देने का प्रयत्न किया जा चुका है। १६२६ तथा १६३० में स्मर्ना के षडयंत्र अत्यन्त संगठित थे, किन्तु उनका पता चल गया। षडयंत्रकारियों को तुरन्त फांसी दे दी गई। १६३०-३१ में स्मर्ना के समीप कतिपय प्रभावशाली दरवेशों ने धार्मिक विद्रोह खड़ा कर दिया, और खिलाफ़त को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया। वे असफल हुए और उनका कठोरता के साथ दमन किया गया। अस्तु, अधिकांश देशवासी कमाल के साथ हैं, क्योंकि कमाल जैसे व्यक्ति की देश को आवश्यकता है।

टर्की योरोपीय राष्ट्रों से आरम्भ में बहुत ही सशंक रहता था, क्योंकि मित्र-राष्ट्रों ने महायुद्ध के उपरान्त उसके साथ बहुत

बुरा व्यवहार किया था। साथ ही राष्ट्र-संघ के प्रति भी टर्की की धारणा अच्छी नहीं थी, क्योंकि टर्की और इराक की सीमा सम्बन्धी झगड़े में राष्ट्र-संघ ने टर्की के विरुद्ध फैसला दिया था। इसके विपरीत, सोवियट रूस ने योरोपीय साम्राज्यवाद से छुटकारा पाने में टर्की की भरसक सहायता की, इस कारण टर्की ने रूस से १६२५ में मैत्री कर ली। किन्तु बाद को रूस और टर्की के सम्बन्ध बहुत अच्छे नहीं रहे, क्योंकि रूस टर्की में भी साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रचार करने लगा। मुस्तफ़ा कमाल को टर्की की रक्षा करने में रूस से बहुत सहायता मिली थी, किन्तु वह टर्की में साम्यवाद आन्दोलन फैलने देना नहीं चाहता था; उसने इसका कठोरता-पूर्वक दमन किया। इधर पश्चिमीय राष्ट्र भी टर्की पर सोवियट रूस का प्रभाव नहीं देखना चाहते थे, अतएव उन्होंने भी टर्की के प्रति अपने रुख को बदला। १६२६ में फ्रांस और इटली से संधियां हो गईं, और १६३२ में टर्की राष्ट्र-संघ का सदस्य बन गया। १६३४ में बालकन राज्यों में यह संधि हुई कि कोई राष्ट्र एक दूसरे पर आक्रमण नहीं करेगा। टर्की के नेतृत्व में ही बालकन राष्ट्रों में यह समझौता हुआ था। क्रमशः टर्की बालकन गुट (Balkan Entente) का सर्वमान्य नेता बन गया। १६३४ की संधि जिस पर यूनान, यूगोस्लोविया, रुमानिया तथा टर्की ने हस्ताक्षर किये थे, टर्की के प्रयत्नों का ही फल था। यही नहीं, टर्की ने बलगेरिया से भी संधि कर ली।

लूसेन संधि के अनुसार दरेदानियाल के दोनों ओर का प्रदेश

असैनिक प्रदेश बना दिया गया था। टर्की हृदय से दरेदानियाल के प्रदेश को असैनिक रहने देना नहीं चाहता था, परन्तु उस समय उसे यह शर्त माननी पड़ी। चतुर अता-तुर्क कमाल उचित अवसर देख रहा था कि वह दरेदानियाल में मोर्चाबंदी करके अपने देश को सुरक्षित कर सके। उसे अवसर भी मिल गया, जर्मनी में नाजियों का प्रभुत्व हो जाने, और इटली द्वारा इथोपिया की स्वतंत्रता के हरण हो जाने से परिस्थिति में बहुत परिवर्तन हो गया। टर्की ने लूसेन संधि की उपर्युक्त शर्त को रद्द कर देने की मांग की। इसका फल यह हुआ कि स्वीटज़रलैंड के मांट्रियक्स नामक स्थान पर सम्बन्धित राष्ट्रों का सम्मेलन हुआ; उसने दरेदानियाल पर टर्की का प्रभुत्व स्वीकार किया तथा टर्की को उसमें मोर्चाबंदी करने, तथा सेना रखने की अनुमति दे दी। यह टर्की की अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक प्रतिष्ठा के बढ़ने का अच्छा प्रमाण है।

टर्की केवल योरोप में ही अपनी स्थिति सुरक्षित करके चुप नहीं रहा, उसने एशियाई मुस्लिम राष्ट्रों से भी संधि कर ली है। ८ जुलाई १९३७ को एशियाटिक पैक्ट पर टर्की, ईरान, अफ़गानिस्तान और इराक़ ने हस्ताक्षर कर दिये। भविष्य में बहुत सम्भव है कि सौदी अरेबिया, मिश्र, तथा सीरिया भी इस संधि में सम्मिलित हो जावें। योरोप के रंगमंच पर युद्ध के बादल मंडरा रहे हैं, इस कारण टर्की, यूनान तथा अन्य बालकन राष्ट्रों ने दस वर्ष के लिए एक नवीन समझौता कर लिया है, जिसके

अनुसार, यदि उन पर अन्य कोई राष्ट्र आक्रमण करे तो वे एक दूसरे को सहायता देंगे। सारांश में कमाल ने जहां तक सम्भव हो सका है, टर्की की राजनैतिक स्थिति को मजबूत कर दिया है।

इन थोड़े से वर्षों में टर्की राष्ट्र ने आश्चर्यजनक उन्नति कर ली है, परन्तु अभी बहुत कुछ करना शेष है। कुछ एशियावासियों और विशेषकर मुसलमानों को टर्की का शत-प्रति-शत पश्चिमीय बन जाना अच्छा नहीं लगा। किन्तु उन्हें यह ध्यान में रखना चाहिए कि तुर्कों की कोई अपनी सभ्यता नहीं थी, इस कारण उन्हें बिलकुल पश्चिमीय राष्ट्र बन जाने में संकोच नहीं हुआ। साथ ही, आधुनिक राष्ट्र बनने के लिए धर्म को सर्वोपरि स्थान से हटाना तथा पश्चिमीय संस्थाओं को अपनाना भी आवश्यक है।

———

चौथा परिच्छेद

अरब की राष्ट्रीय जागृति

[सीरिया, पैलेस्टाइन, इराक़ (मैसोपोटैमिया), तथा मध्य अरब]

अरब की राष्ट्रीय जागृति का अध्ययन करते समय यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि सभ्यता एवम् राष्ट्रीय चैतन्य की दृष्टि से अरब दो भागों में विभक्त है। (१) मरु-भूमि (मध्य अरब), जिसकी राष्ट्रीय जागृति का आधार शुद्ध क़ुरान तथा मुहम्मद

साहब के उपदेश हैं, (२) भूमध्यसागर के समीपवर्ती प्रदेश (सीरिया, मैसोपोटैमिया तथा पैलेस्टाइन), जिनकी राष्ट्रीय जागृति पर पश्चिमीय प्रभाव की प्रधानता है। अरब का इतिहास मरु-भूमि के निवासियों और उत्तर के उपजाऊ प्रदेशों के अरब-निवासियों के कलह से भरा हुआ है। मरु-भूमि की वीर बदाऊँ जाति ने इस्लाम धर्म में दीक्षित होकर उत्तर के प्रान्तों पर कई बार आक्रमण किया और उन्हें अरब प्रदेश बना डाला।

योरोप के समीप होने से पश्चिमीय विचार-धारा के प्रभाव तथा तुर्की साम्राज्यवाद के दबाव के कारण सर्व-प्रथम भू-मध्य सागर के समीपवर्ती प्रदेशों में राष्ट्रीय चैतन्य उदय हुआ और ईसाई, द्रूज तथा मुसलमानों के धार्मिक मत भेदों की दीवारें, जो राष्ट्रीयता के मार्ग में बाधक हो रहीं थीं, निर्बल होती गईं।

मध्य अरब की राष्ट्रीय जागृति जो कि वहाबी बदाऊँ जाति में फैली, उसका कारण वहां का अहवान आन्दोलन था। योरोपीय महायुद्ध के समय अरब की राष्ट्रीयता ने एक क्रान्तिकारी रुख प्रदर्शित किया। अरब-राष्ट्र ने सब अरब-प्रदेशों का एक संघ बनाने की मांग की। ऐसा प्रतीत होता था कि उत्तर और मरु-भूमि की प्राचीन भिन्नता अब नष्ट होने वाली है। मक्का का शरीफ़ हुसैन अपने नेतृत्व में सारे अरब को संगठित करना चाहता था। किन्तु उसी समय वहाबी आन्दोलन का ज्वालामुखी फूट पड़ा, और समस्त अरब के एक सूत्र में बंधने की

सम्भावना नष्ट होगई। किन्तु अब फिर 'पान-अरब'-आन्दोलन अर्थात् समस्त अरब के आन्दोलन की गूंज सुनाई दे रही है। जो लोग अरब की राजनीति को समझते हैं, उनका कहना है कि यह आन्दोलन केवल कल्पना ही नहीं है, सुदूर भूत में वह सत्य भी हो सकता है।

सीरिया

सर्व-प्रथम, राष्ट्रीय जागृति के चिन्ह सीरिया में दृष्टिगोचर हुए। सौ वर्ष पूर्व सीरिया तत्कालीन संसार से पृथक् मध्य युग में विचरण कर रहा था। यद्यपि सीरिया टर्की साम्राज्य का एक प्रान्त था, उसपर टर्की का प्रभुत्व नाम-मात्र को ही था। भिन्न-भिन्न सीरियन सरदार तथा धर्मावलम्बी आपस में लड़ करते थे। मिस्र का प्रसिद्ध शासक वीरवर मुहम्मदअली तथा उसके पुत्र इब्राहीम ने सीरिया विजय करके वहां नौ वर्ष शासन किया। उस थोड़े से समय में उसने सीरियन सरदारों की शक्ति नष्ट कर दी, उपजातियों के राजनैतिक संगठन को तोड़ दिया, गमनागमन के साधनों की उन्नति की, और पश्चिमीय जातियों के लिए सीरिया के द्वार खोल दिये। फल-स्वरूप फ्रैंच कैथलिक तथा अमरिकन प्रोटैस्टैंट पादरी देश में आये और ईसाई धर्म का प्रचार करने लगे। सीरियन ईसाई युवक पश्चिमीय देशों में शिक्षा तथा व्यापार के लिए जाने लगे, सीरिया का एकान्त-वास नष्ट होने लगा।

१८६८ में अमरीकन पादरियों ने बैरुत में एक कालेज खोला, और शिक्षा का माध्यम अरबी रक्खा। कुछ समय उपरान्त फ्रैंच पादरियों ने १८७५ में बैरुत में सेंट-जोसेफ विश्व-विद्यालय की स्थापना की, उसके साथ ही उन्होंने एक बड़ा अरबी प्रेस खोला और अरबी पुस्तकों तथा पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया। इन कालेजों में सीरियन ईसाई ही पढ़ते थे। वास्तव में सेंट जोसेफ का विद्यापीठ फ्रैंच आन्दोलन को चलाने के लिए स्थापित किया गया था। फ्रैंच सरकार सीरिया पर अपनी दृष्टि लगाये हुई थी। १८६५ में शेख अहमद अब्बास ने, जो कैरो के अल-अज़हर विद्यापीठ में अध्ययन कर चुका था, उसमानिया कालेज स्थापित किया। इस कालेज में यद्यपि शिक्षा इस्लाम के सिद्धान्तों के अनुसार ही दी जाती थी, नवीन विचारों का भी स्वागत किया जाता था। कालेज में फ्रैंच भाषा तथा आधुनिक विषयों की भी शिक्षा दी जाती थी। इन शिक्षा-केन्द्रों से एक नवीन विचार-धारा का प्रवाह हुआ, जिसने सीरिया में जागृति उत्पन्न करदी।

पश्चिमीय देशों की भांति ही सीरिया की राष्ट्रीय जागृति का जन्म साहित्यिक क्रान्ति के साथ-साथ हुआ। सीरिया में साहित्यिक क्रान्ति और उसके द्वारा राष्ट्रीय चैतन्य उत्पन्न करने का श्रेय बुतरस अलबस्तानी को है। १८६० में उसने बैरुत से 'नफीर सुरय्या नामक' अरबी पत्र निकाला, और तीन वर्ष के उपरान्त एक राष्ट्रीय अरबी कालेज स्थापित किया।

ठीक उसी समय "अल जनान" नामक एक राष्ट्रीय पत्र निकला, जिसने सीरियन लोगों को मातृ-भूमि की भक्ति का उपदेश देना आरभ किया। बस्तानी ने जनसाधारण की शिक्षा पर बहुत जोर दिया, यहां तक कि उसने स्त्रियों की शिक्षा को भी प्रोत्साहन दिया। इस समय सीरियन इतिहास तथा अन्य विषयों पर खूब ही साहित्य उत्पन्न हुआ। अरबी के प्रकांड विद्वान यासिजी और यूसुफ ने भी राष्ट्रीय जागृति को अपनी लेखनी के द्वारा खूब फैलाया। युवक सीरियन भी इस राष्ट्रीय विचार-प्रवाह से न बचे। युवक साहित्यिक नेता अदिब इशाक जो जमाल-उद्दीन अफगानी का राजनैतिक शिष्य था, पैरिस से एक फ्रैंच पत्र निकाल कर सीरियन युवकों में नवजीवन भरने लगा। सीरिया की महिलाओं ने आरम्भ से ही राष्ट्रीय आन्दोलन का साथ दिया। १८६३ में स्त्रियों का पहला पत्र प्रकाशित हुआ; शीघ्र ही स्त्रियों के बहुत से पत्र प्रकाशित होने लगे। इनमें विशेता यह थी कि स्त्रियां ही इनका संपादन करती थीं। इन पत्रों में लबीब हाशिम द्वारा संपादित "फतल-अल शार्क" (पूर्व की युवती) अत्यन्त प्रभावशाली और सर्व-प्रिय पत्र बन गया।

यद्यपि सीरिया में उदार विचार-धारा का जन्म फ्रैंच प्रभाव के कारण हुआ था, सीरियन लोगों ने फ्रैंच संस्कृति को पूर्णतः नहीं अपनाया। फ्रांस के पक्ष में प्रचार करने वालों को यह आशा थी कि सीरिया क्रमशः फ्रैंच संस्कृति को अपनाकर

अपनी संस्कृति को भूल जावेगा। किन्तु ऐसा नहीं हुआ। १६०८ में एक गुमनाम पुस्तिका इस आशय का निकली कि हम टर्की अथवा फ्रांस किसी से भी इस प्रकार नहीं मिल सकते कि अपने को भूल जावें। पुस्तिका में फ्रैंच संस्कृति की प्रशंसा करते हुए कहा गया था कि सीरिया वासियों के लिए यह आवश्यक है कि वे अपनी राष्ट्रीयता को बनाये रक्खें।

इस समय सीरियन युवकों में धार्मिक कट्टरता के विरुद्ध भावना उदय हुई। शिक्षित युवक समझ गये कि सीरिया की एकता को स्थापित न होने देने में धार्मिक विद्वेष ही मुख्य कारण है। अतएव उन्होंने इसका विरोध करना आरम्भ कर दिया। उस समय जी-मैलाफ ने इस सम्बन्ध में ठीक ही लिखा था, "मुझे पूर्ण विश्वास है कि धर्म पूर्व का दुर्भाग्य है, और पैगम्बर उसके महान रोग हैं।" किन्तु सीरिया में एक सूत्र था जो भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बियों को बांधने का प्रयत्न कर रहा था; वह थी, अरबी भाषा और उसका साहित्य, जो क्रान्तिकारी भावों को पोषित कर रहा था।

बहुत से देश-भक्त, विदेशों में रहकर सीरिया में क्रान्तिकारी भावनाओं का प्रचार कर रहे थे। केवल सीरियन युवक ही टर्की सुलतान के विरुद्ध षड़यंत्र नहीं कर रहे थे, टर्की के युवक भी सुलतान को सिंहासन से उतार कर प्रजातंत्री सरकार स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे थे। सीरियन राष्ट्रीय नेताओं की धारणा

थी कि जब यंग-टर्क-पार्टी का आन्दोलन सफल हो जावेगा और टर्की साम्राज्य का शासन-सूत्र तरुण युवकों के हाथ में आ जावेगा, उस समय सीरिया को अवश्य ही आन्तरिक मामलों में स्वराज्य प्राप्त होगा। यही कारण था कि सीरियन नेताओं ने यंग-टर्क-पार्टी के साथ सहयोग किया और उनके आन्दोलन से सदैव सहानुभूति प्रगट की। १९०८ में जब क्रान्ति सफल हुई, टर्की में प्रजातंत्री शासन का आविर्भाव हुआ, और राजकीय सत्ता युवक तुर्कों के हाथ में आगई तो सीरिया-वासियों को अत्यन्त हर्ष हुआ। उन्हें यह आशा हो गई कि अब निकट भविष्य में सुदिन आने वाले हैं।

किन्तु यह नहीं हुआ, राष्ट्रीयता में ओत-प्रोत तरुण तुर्कों ने साम्राज्य मे बसने वाली जातियों पर तुर्की संस्कृति, तुर्की भाषा और तुर्की राष्ट्रीयता को बल-पूर्वक लादने का प्रयत्न किया। उनका विश्वास था कि जब अरब अथवा अन्य प्रान्तों को पूर्ण रूप से तुर्क बना दिया जावेगा तभी टर्की एक सुदृढ़ और बलशाली राष्ट्र बन सकेगा। अतएव उन्होंने टर्की साम्राज्य में बसने वाली अरब, यूनानी, अलबेनियन, बलगर, कुर्द, तथा अन्य जातियों को तुर्क बनाने का प्रयत्न किया। यदि यंग-टर्क-पार्टी भिन्न-भिन्न जातियों को अपनी संस्कृति की उन्नति करने देती और उन्हें आन्तरिक मामलों में स्वराज्य दे देती तो सम्भवतः तुर्क साम्राज्य का विशाल भवन गिरने से बच जाता, और संगठित टर्की अधिक प्रभावशाली हो सकता।

१६०८ के उपरान्त यंग-टर्क-पार्टी ने अरबी प्रान्तों को तुर्की प्रान्त बनाने का कार्य आरम्भ किया। अरब की रीतियों को बदलने, स्कूलों से अरबी भाषा को हटाने, तथा अन्य ऐसे ही कार्यों से अरब में राष्ट्रीयता का ज्वालामुखी भड़क उठा। इस बार का विरोध मैसोपोटैमिया में अधिक तीव्र था! इसका फल यह हुआ कि टर्की के समस्त अरब प्रान्तों को यंग-टर्क-पार्टी से निराशा हो गई, और उनमें स्वयं अपने पैरों पर खड़े होने की भावना दृढ़ होती गई।

उस समय सीरिया संबंधी विद्रोह का केन्द्र कैरो बन गया था, क्योंकि वहां बहुत से सीरियन निवास करते थे। वहां नज़ीब अज़ौरी ने एक 'फ्री-मेसन' आश्रम स्थापित किया; उसकी शाखाएं अरब प्रान्तों में फैलने लगीं। इब्राहीम की सहायता से राज्य-कर्मचारियों ने अल-अहद् नामक क्लब की स्थापना की, जिसका उद्देश्य राष्ट्रीय क्रान्ति करना था। सीरिया के अरबों ने यह घोषणा की कि वे टर्की साम्राज्य में इन शर्तों पर रहना चाहते हैं कि सीरिया में अरबी राजकीय भाषा स्वीकार करली जावे, राज्य-कर्मचारियों का अरबी जानना अनिवार्य हो; और वे स्थानीय अधिकारियों की सम्मति के बिना नियुक्त न किये जावें, तथा प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं को आन्तरिक मामलों में पूर्ण अधिकार दिये जावें, केवल विदेश-नीति और सेना उनके अधिकार में न रहे। कुछ दिनों के उपरान्त बैरुत में बयालीस मुसलमान, बयालीस ईसाइयों, और दो यहूदियों की एक कमेटी,

शासन-सुधार योजना बनाने के लिए, नियत की गई। कमेटी ने एक प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा की आवश्यकता बताई, जिसमें १५ मुसलमान और १५ ईसाई सदस्य हों। इधर तो यह हो रहा था, उधर सरकार ने बैरूत के रिफ़ार्म क्लब को अप्रैल १९१३ में तोड़ दिया। सारे सीरिया प्रान्त के पत्रों ने दूसरे दिन केवल सरकारी घोषणा को प्रकाशित किया और विरोध-स्वरूप शेष पृष्ठों को खाली छोड़ दिया। दो दिन तक सार्वजनिक हड़ताल रही।

१८ जून १९१३ को प्रथम अरब सीरियन-कांग्रेस का सम्मेलन पैरिस में हुआ। इस सम्मेलन के संयोजकों का उद्देश्य यह था कि सीरिया के लिए कुछ सुधार प्राप्त करके तरुण तुर्कों से समझौता कर लिया जावे; किन्तु सीरियन पत्र टर्की सरकार की, अरब-प्रान्तों को टर्की में सम्मिलित करने की नीति का घोर विरोध कर रहे थे, यहां तक कि अमरीका के अरब-पत्रों ने भी सीरिया के आन्दोलन का समर्थन किया।

मध्य अरब

इस समय अरब प्रायद्वीप में अरबी राष्ट्रीयता ने एक विशेष रूप प्राप्त कर लिया था। अरब के छोटे-छोटे सरदारों में भी राष्ट्रीयता के विचार जागृत हो चुके थे। अरब प्रायद्वीप में वहाबी आन्दोलन ने सब अरबों को एक सूत्र में बांधने का प्रयत्न किया। मध्य अरब में, उन्नीसवीं शताब्दी में दो राज्य थे। यह

दोनों राज्य प्रथम वहाबी आन्दोलन के अवशेष चिन्ह मात्र थे। एक राज्य नज्द था, जिसके शासक इब्न सऊद के वंशज थे, और दूसरा राज्य जबल शम्मार था, जिस पर इब्न रशीद के वंशज शासन कर रहे थे। यह दोनों राज्य बराबर एक दूसरे से युद्ध करते रहते थे, उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में जबल शम्मार के शासकों की विजय हुई और इब्न सऊद के वंशज को कुवेत में भाग कर जाना पड़ा।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में वहाबी वंश के एक राजकुमार ने, जिसका नाम अब्दुल-असीस-इब्न अब्दुर्रहमान-इब्न फैसल-अस-सऊद था, अपने पूर्वजों की राजधानी को, अचानक आक्रमण करके अपने अधिकार में कर लिया। वही युवक अब्दुल-असीस-तृतीय जो साधारणतः इब्न सऊद के नाम से पुकारा जाता है, इब्न रशीद पर आक्रमण करने लगा और अपने राज्य का विस्तार करने लगा। १९१० में उसने अहवान आन्दोलन चलाया। इस आन्दोलन का उद्देश्य अरबों के छोटे छोटे फ़िरक़ों को नष्ट करके अरबों की एकता स्थापित करना, घूमने वाले फिरकों को स्थाई रूप से बसाना, तथा वहाबी आन्दोलन के सिद्धान्तों को कार्य-रूप में परिणत करना था। १९१३ में इब्न सऊद ने फ़ारस की खाड़ी के समीपवर्ती टर्की प्रान्त अलहासा को विजय कर लिया और अंग्रेज़ी प्रभाव-क्षेत्र के सम्पर्क में आ गया। इब्न सऊद धार्मिक, ईमानदार, स्वतंत्रता-प्रेमी और ऊंचे चरित्र का व्यक्ति है। उसकी प्रजा

उससे प्रेम करती है। मध्य अरब को एकता के सूत्र में बांधना उसी का काम था।

इस समय यमन और असीर के प्रान्त भी, जो टर्की-साम्राज्य के अन्तर्गत थे, स्वतंत्र होने का प्रयत्न कर रहे थे। मक्का का शरीफ़ हुसैन स्वतंत्र शासक बनने के स्वप्न देख रहा था। हैजाज रेलवे लाइन के बन जाने से इन प्रान्तों का टर्की-साम्राज्य से और भी सम्बन्ध जुड़ गया।

१९१३ में सीरिया के राष्ट्रीय नेताओं ने हुसेन से गुप्त मंत्रणा की। उसके फल-स्वरूप मिस्र के हाई कमिश्नर लार्ड किचनर के पास एक दूत ब्रिटिश सहायता प्राप्त करने के लिए भेजा गया किन्तु उस समय ब्रिटेन तथा टर्की के सम्बन्ध अच्छे थे, इस कारण उसे सफलता न मिली। १९१४ में कुवेत में अरब-शासकों का एक सम्मेलन करने की तैयारियां की गईं। इस सम्मेलन का उद्देश्य अरब की एकता स्थापित करना था। उसी समय योरोपीय महायुद्ध छिड़ गया और अरब के राष्ट्रीय नेताओं को अपना स्वप्न सफल होते दिखलाई दिया।

आरम्भ से ही अरब राष्ट्रीय आन्दोलन ने अरब के सब फिरकों में एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया। १९०५ में अरब नेशनल कमेटी ने जो घोषणा निकाली थी, उसमें राष्ट्रीय योजना का रूप भी निश्चित कर दिया गया था। घोषणा में कहा गया था कि "तुर्क हमारे धार्मिक तथा सामाजिक

मत-भेदों का लाभ उठाकर हमें परतंत्र बनाये हुए हैं, किन्तु अरब जागृत हो गये हैं और इस निर्बल टर्की साम्राज्य से अपने को पृथक् करके एक स्वतंत्र राज्य क़ायम करना चाहते हैं। नवीन अरब राष्ट्र की सीमाएं टाइग्रीज़ और यूफ्रैटीज़ से स्वेज़ तक, और भूमध्य सागर से लेकर ओमन के समुद्र तक होंगी। उसकी शासन-प्रणाली उदार तथा वैध राजतंत्र होगी, और कोई अरब-सुलतान उसका वैध शासक होगा। हैजाज का एक स्वतंत्र राज्य होगा और उसका शासक मुसलमानों का खलीफ़ा होगा। जब हम लोग स्वतंत्र थे, हमने सौ वर्षों के अन्दर ही पूर्व और पश्चिम को विजय किया, और अपनी विद्या, संस्कृति, और सभ्यता का उन देशों में प्रचार किया। संसार में हमारी सभ्यता की सैकड़ों वर्षों तक धाक जमी रही, किन्तु इन बर्बर तुर्कों की दासता में हमारा कैसा घोर पतन हो गया है, यह प्रत्येक अरबवासी जानता है।" अरब के छोटे-छोटे राज्यों और प्रान्तों का एक संघ बनाने की योजना बहुत पहले ही बन चुकी थी, महायुद्ध के अवसर पर उस योजना के सफल होने की सम्भावना दिखलाई देने लगी।

अरब प्रायद्वीप का राजनैतिक दृष्टि से बहुत महत्व था, और आज भी है, क्योंकि योरोप और भारतवर्ष के सारे जल, स्थल, और वायु मार्गों का निकास इसी देश में से होकर है। यही कारण है कि उन्नीसवीं शताब्दी में भी ब्रिटेन ने अरब में अपना

प्रभाव-क्षेत्र बनाने का प्रयत्न किया था। महायुद्ध के समय ब्रिटेन को यह अवसर मिला कि वह अपनी योजना को पूरा करे।

जब योरोपीय युद्ध छिड़ा, उस समय संसार की सहानुभूति प्राप्त करने के उद्देश्य से मित्र-राष्ट्रों ने अधीन राष्ट्रों को स्वतंत्रता तथा आत्म-निर्णय प्रदान करने की घोषणा की थी। इस घोषणा ने बहुत से पूर्वीय देशों में नव आशा का सञ्चार कर दिया था, वे यह समझने लगे थे कि हमारे भी अच्छे दिन आने वाले हैं। अरब भी इस भावना से अछूते नहीं थे, उन में भी नवीन आशा का सञ्चार हुआ, और वे भी स्वतंत्रता प्राप्त करने का प्रयत्न करने लगे। इधर तुर्कों ने कतिपय अरब नेताओं का, जो टर्की के विरुद्ध षडयंत्र कर रहे थे, सीरिया और बग़दाद में वध कर दिया। इस कारण अरबों में और भी उत्तेजना फ़ैल गई।

इसी समय मित्र-राष्ट्रों ने गुप्त संधियां करके आपस में अरब प्रायद्वीप के बटवारे का निश्चय कर डाला, किन्तु यह किसी को भी ज्ञात नहीं हो सका। केवल फ्रैंच पत्रों ने इस बात का प्रचार करना आरम्भ करदिया कि सीरिया-निवासी, फ्रांस के अधिकार में रहना चाहते हैं। पहली अगस्त १६१६ को 'रिव्यू-डी-पैरिस' नामक पत्र में वेरुत के एक अरब-निवासी का बहुतही मार्मिक पत्र प्रकाशित हुआ। पत्र का आशय था कि "सीरिया, मैसोपोटेमिया एक हैं, हम में कोई भेद नहीं है, शताब्दियों तक हम टर्की की दासता के जुये को अपने कंधेपर रखकर टर्की के साम्राज्यवाद का

बोझा ढोते आये हैं। हज़ारों अरब युवक विदेशों में पड़े हुए अपने देश की स्वतंत्रता की आकांक्षा कर रहे हैं, योरोपीय महा-युद्ध के आरम्भ से हम यह सुनते आ रहे हैं कि इस युद्ध का उद्देश्य पद-दलित राष्ट्रों को स्वतंत्र करना है। यह सुनकर हमारे हर्ष का ठिकाना नहीं था, किन्तु यह जानकर कि फ्रांस हम पर अपनी दासता का जुआ रखने की चेष्टा कर रहा है, हमारे हृदय को अत्यन्त क्षोभ हो रहा है। यदि फ्रांस हमें एक बार फिर दास बनाने का प्रयत्न करेगा तो हम आज असहाय होने के कारण उसे हृदय से शाप देने के अतिरिक्त कुछ नहीं कर सकते, किन्तु एक दिन वह अवश्य आवेगा जब कि समस्त अरब प्रायद्वीप एक साथ उठ खड़ा होगा, और इन साम्राज्यवादी बंधनों को तोड़ डालेगा।" इस पत्र में अरब-राष्ट्रीयता का सच्चा किन्तु मार्मिक चित्रण किया गया है।

उधर ब्रिटेन, और मक्का के शरीफ़ (हुसेन इब्नअली) में, बात चीत चल रही थी। योरोपीय महायुद्ध के आरम्भ में ही अंग्रेज़ हवाई जहाजों ने असंख्य विज्ञप्ति-पत्रों को जिद्दा पर फेंककर यह घोषणा की थी कि, इस महायुद्ध में मित्र-राष्ट्रों की विजय होने पर संधि में यह निश्चय कर दिया जावेगा कि अरब एक स्वतंत्र राष्ट्र बना दिया जावे, और उसकी एक इञ्च भूमि भी किसी अन्य राष्ट्र को न दी जावे। हुसेन निर्बल एवं महत्वाकांक्षी था, अंग्रेज़ों ने उसे यह लालच दिया कि वह एक संगठित अरब-राष्ट्र का निर्माण करे। फिर क्या था, हुसेन का स्वप्न पूरा होने

वाला था। उसने अपने को अरब का राजा घोषित कर दिया और जून १६१६ में टर्की के विरुद्ध युद्ध-घोषणा करदी। मुसल-मानों को खलीफ़ा के विरुद्ध विद्रोह करने के सम्बन्ध में अपनी सफ़ाई देते हुए, हुसेन ने कहा कि टर्की के शासक, यंग-टर्क्स पार्टी के नेता, इस्लाम के विरोधी हैं। हम यह विद्रोह इस्लाम की प्रतिष्ठा को बढ़ाने के लिए कर रहे हैं।

अंग्रेजों ने देखा कि हुसेन से जैसा हम चाहेंगे काम ले सकेंगे। साथ ही हुसेन कुरेश वंश का था, जिसमें स्वयं मुहम्मद साहब ने जन्म लिया था। शताब्दियों से मक्का उसी वंश के अधिकार में चला आरहा था, अतएव मुस्लिम संसार उसे श्रद्धा से देखता था। इस कारण अंग्रेज़ों ने हुसेन की सहायता करना स्वीकार कर लिया।

४ नवम्बर १६१६ को हुसेन ने अरब के बादशाह के नाम से अपना अभिषेक कराया। हुसेन के निजी पत्र अल-किबला ने बड़े-बड़े अक्षरों में प्रकाशित किया "आज का दिन अरबों के लिए अपूर्व समारोह का दिन है, हम आज अपने पुराने वैभव को प्राप्त कर सके हैं।" इस उत्सव में सीरिया के प्रतिनिधि भी उपस्थित थे; फ्रांस सरकार ने भी नये बादशाह को स्वीकार कर लिया। नये बादशाह ने यह घोषणा की कि हमारे राज्य में मुस्लिम तथा गैर-मुस्लिम सभी के अधिकार समान होंगे। किन्तु हुसेन की बादशाहत केवल एक मास तक ही चली; अरब के

नेताओं ने उसे बादशाह स्वीकार नहीं किया, और दिसम्बर में ही हुसेन ने विवश होकर अरब के बादशाह के स्थान पर हैजाज़ के बादशाह की उपाधि धारण कर ली। उस समय वह मदीना के अतिरिक्त सारे हैजाज़ का शासक था। हुसेन ने अपने पुत्र फैसल के नेतृत्व में अरब सेना को अंग्रेज़ी सेनाओं की सहायता करने के लिए उत्तर की ओर भेजा।

१९१७ में अरब के तुर्की प्रान्तों पर अंग्रेज़ों का अधिकार हो गया। मार्च १९१७ में बगदाद अंग्रेज़ों के अधिकार में आगया। ब्रिटिश सेनापति ने इसको विजय करने के उपरान्त यह घोषणा की कि अंग्रेज़ों तथा उनके मित्र राष्ट्रों का यह स्वप्न में भी विचार नहीं है कि अरबों पर विदेशी शासन लादा जावे; हम चाहते हैं कि अरब जाति अपने पुराने वैभव को फिर से प्राप्त करे, और अपने को एक राष्ट्र में संगठित करले। ९ दिसम्बर १९१७ को जनरल एलनबे ने यरुशलम पर अधिकार कर लिया। धार्मिक युद्धों का उद्देश्य सफल हुआ, यरुशलम ईसाइयों के अधिकार में आगया। यही नहीं, मक्का और बग़दाद भी उनके अधिकार में चले गये। इधर मित्र-राष्ट्रों की सेनाएं अरब के प्रान्तों पर अधिकार करती जा रही थीं, उधर फ्रांस और ब्रिटेन अरबों को पूर्ण स्वतंत्रता देने का बार बार आश्वासन देते जाते थे। १९१६ में फ्रांस और इङ्गलैंड में जो गुप्त बटवारा हुआ था, उसके अनुसार मैसोपोटैमिया ब्रिटेन के, और सीरिया फ्रांस के अधिकार में रखने का, और शेष अरब प्रान्तों में ब्रिटेन और फ्रांस के

प्रभाव-क्षेत्र स्थापित करने का, निश्चय कर लिया गया था। नवम्बर १६१७ में ब्रिटेन की सरकार ने अपने वैदेशिक मंत्री लार्ड बैलफोर के द्वारा यह घोषणा करवाई कि पैलेस्टाइन में अरब-निवासियों के नागरिक तथा धार्मिक अधिकारों को क्षति न पहुँचाते हुए हम वहां यहूदियों का राष्ट्रीय गृह स्थापित करना चाहते हैं।

महायुद्ध के पश्चात् अरब यह आशा करने लगे कि अब हमको स्वतंत्रता प्राप्त हो जावेगी, किन्तु उन्हें नितान्त निराश होना पड़ा। केवल दमिश्क में एक स्वतंत्र अरब राज्य स्थापित करने की चेष्टा की गई। पहली अक्तूबर १६१८ को फैसल अपनी अरब सेनाओं को लेकर दमिश्क में घुसा। वह जानता था कि सीरियन जाति के लोग अन्य अरब प्रान्तों से अधिक उन्नत हैं, अतएव उसने मंत्री-मंडल, राजकीय परिषद, तथा प्रधान न्यायालय आदि के उच्च पदों पर केवल सीरियन लोगों को ही नियुक्त किया। इसका फल यह हुआ कि सीरिया-निवासी उससे सन्तुष्ट रहे।

फरवरी १६१६ में, वार्साई की सन्धि में फैसल हैजाज़ का प्रतिनिधि बन कर गया। उसने अपने पिता और ब्रिटिश सरकार के पूर्व समझौते के अनुसार, उनसे सब अरब प्रदेशों का एक संघ बनाये जाने की मांग की। किन्तु पैरिस की सीरियन कमेटी के प्रतिनिधियों ने सीरिया को हैजाज़ से पृथक् किये जाने,

और फ्रांस के संरक्षण में रखे जाने की इच्छा प्रगट की। लैबनान से आये हुये ईसाई प्रतिनिधि-मंडल ने सीरिया पर फ्रांस का शासनादेश स्थापित किये जाने का समर्थन किया। इस पर सन्धि-सम्मेलन ने सीरिया के निवासियों की इच्छा जानने के लिए एक कमीशन भेजने का निश्चय किया। किन्तु चतुर साम्राज्यवादी राष्ट्र ब्रिटेन और फ्रांस ने उस कमीशन में अपने प्रतिनिधि रखने अस्वीकार कर दिये। अतएव कमीशन वस्तुतः केवल अमरीकन ही था। यह कमीशन क्रेन और किंग की अध्यक्षता में सीरिया के निवासियों की इच्छा जानने के लिए सीरिया गया।

इधर फैसल मई १९१९ में लौटकर आया और उसने सीरियन नेशनल कांग्रेस को शासन-विधान बनाने के लिए बुलाने का आयोजन किया। साधारण चुनाव हुआ, किन्तु फ्रेंच अधिकारियों ने लैबनान में, और अंग्रेजों ने पैलेस्टाइन में चुनाव करने की आज्ञा नहीं दी। २० जून १९१९ को दमिश्क में सीरियन नेशनल कांग्रेस का अधिवेशन आरम्भ हुआ, वह पांच महीने तक चलता रहा। २ जुलाई १९१९ को कांग्रेस ने कमीशन के सामने निम्नलिखित आशय का वक्तव्य उपस्थित किया "हम सीरिया के लिए (जिसके अन्तर्गत पैलेस्टाइन तथा लैबनान भी हैं) पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते हैं। सीरिया के लिए हम वैध राजतंत्र अधिक उपयुक्त समझते हैं, और अमीर फैसल को हम अपना राजा बनाना चाहते हैं, क्योंकि उन्होंने हमें टर्की की दासता से

मुक्त करदिया है। सीरियन किसी भी उन्नतशील जाति से कम उन्नत नहीं हैं, अतएव हम सीरिया को उन देशों की सूची में रक्खे जाने का विरोध करते हैं, जिन पर शासनादेश स्थापित किए जाने की आवश्यकता बतलाई जाती है। यदि किसी कारण-वश राष्ट्र-संघ हमारे इस न्यायपूर्ण विरोध पर ध्यान न देकर हमें किसी राष्ट्र के शासनादेश में रखना उचित ही समझे तो हमें संयुक्तराज्य अमरीका का शासनादेश मान्य होगा, किन्तु वह बीस वर्षों से अधिक के लिए न होना चाहिये। हम सीरिया में फ्रांस का कोई अधिकार मानने को तैयार नहीं हैं, और सीरिया पर फ्रांस का किसी प्रकार का प्रभाव स्वीकार नहीं कर सकते। हम सीरिया के दक्षिण भाग (पैलेस्टाइन) में यहूदियों का राष्ट्रीय गृह बनाये जाने का विरोध करते हैं। पैलेस्टाइन सीरिया का एक भाग है, अतएव उसको सीरिया से पृथक् नहीं किया जाना चाहिए। हम मैसोपोटेमिया को भी पूर्ण स्वतंत्र देखना चाहते हैं।"

लेकिन फैसल को मित्र-राष्ट्र दबा रहे थे। उसने देखा कि फ्रांस से कुछ समझौता किये बिना काम न चलेगा, अतएव पहली दिसम्बर १९१९ को उसने कांग्रेस का अधिवेशन स्थगित कर दिया। जब फैसल १९२० के शीतकाल में योरोप से लौटा तो उसने सीरिया-निवासियों को अपने विरुद्ध पाया। फैसल की फ्रांस तथा ब्रिटेन के प्रति नर्म और समझौते की नीति से, सीरियन उसके विरुद्ध हो गये थे। सीरियन-राष्ट्रीय रक्षा-समिति

ने फैसल से फ्रांस की मांगों को निर्भयता-पूर्वक अस्वीकार कर देने का अनुरोध किया। सारा देश फैसल से यह आशा करता था कि वह सीरिया के लिए पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा।

६ मार्च को सीरियन कांग्रेस का अधिवेशन फिर आरम्भ हुआ। सब सदस्यों ने सीरिया के लिए पूर्ण स्वतंत्रता की मांग उपस्थित की, और सीरियन राज्य के निर्माण की आवश्यकता बतलाई। ८ मार्च को फ़ैसल ने 'किंग' (बादशाह) की उपाधि धारण कर ली। ३ जुलाई को कांग्रेस ने एक प्रजातंत्री शासन-विधान स्वीकार कर लिया। हुसेन के वंशज ही सीरिया के बादशाह हों, निचली सभा ('लोअर हाऊस') के लिए मंत्री--मंडल उत्तरदायी हो, और प्रत्येक प्रान्त की अपनी पार्लियामेन्ट हो, यह उस शासन-विधान की मुख्य बातें थीं।

परन्तु यह शासन-विधान कार्य-रूप में परिणत न हो सका, क्योंकि अप्रेल १९२० की, सानरैमो की संधि में मित्र-राष्ट्रों ने पेलेस्टाइन को छोड़कर सीरिया पर फ्रांस को शासनादेश दे दिया। जुलाई में फ्रैंच हाई-कमिश्नर ने फैसल से सीरिया पर फ्रांस का शासनादेश स्वीकार करने को कहा। फैसल इसे स्वीकार कर लेना चाहता था, किन्तु कांग्रेस ने यह अस्वीकार कर दिया। इस पर फ्रैंच सेना ने दमिश्क पर अधिकार कर लिया, और फ़ैसल भाग गया। समस्त सीरिया पर फ्रांस का अधिकार हो गया।

फ्रैंच अधिकारियों ने सीरिया पर बड़ी कठोरता-पूर्वक शासन आरम्भ किया, और जब सीरियन राष्ट्रीय नेताओं ने सशस्त्र विद्रोह किया तब फ्रैंच सरकार ने मुसलमानों और ईसाईयों को लड़वा कर उस विद्रोह को धार्मिक झगड़े का स्वरूप दे दिया। फ्रांस की यह कूटनीति तब से बराबर सीरिया में चल रही है। ईसाइयों और मुसलमानों के मतभेद का लाभ उठाकर फ्रांस सीरिया की राष्ट्रीयता को कुचलने का बराबर प्रयत्न करता रहा है। साम्राज्यवादी राष्ट्रों के पास विजित जातियों की धार्मिक भावनाओं को जागृत करके उनमें कलह उत्पन्न कर देना एक अमोघ अस्त्र है। फूट डाल कर शासन करने की नीति साम्राज्य-वादी देशों के लिए अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुई है, और हम पूर्वीय देशों के लोग धर्म के नाम पर एक दूसरे के गलों को काटने के लिए सदा तैयार ही रहते हैं। पूर्वीय देशों में राजनैतिक दल, सिद्धान्तों के आधार पर नहीं, वरन् धर्म के आधार पर बनते हैं। यही दशा सीरिया में भी थी, वहाँ के ईसाई, मुसलमान एक होकर राष्ट्र की स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न करना नहीं जानते थे।

किन्तु फ्रांस के अत्याचारों से वे ईसाई लोग भी घबरा उठे, जिन्होंने सीरिया पर फ्रांस के शासनादेश की मांग की थी। लेब-नान की 'कौंसिल-आफ-एडमिनिस्ट्रेशन' ने जनवरी १६१६ में एक प्रस्ताव के द्वारा लेबनान को फ्रांस के अधिकार से मुक्त करने की इच्छा प्रकट की, और उन्होंने यह भी घोषित किया कि हम तुर्कों के शासन में अधिक सुखी थे। १० जुलाई १६२० को

कौंसिल के सात सदस्यों ने लेबनान के लिए पूर्ण स्वतंत्रता की मांग की, और सीरिया से मित्रता करने की आवश्यकता बतलाई। फ्रेंच अधिकारियों ने उन्हें पकड़ लिया और निर्वासित कर दिया।

सीरिया के राष्ट्रीय नेताओं ने देखा कि उनका अब तक का सारा प्रयत्न तथा देश-भक्त नवयुवकों का त्याग विफल होगया। वे यह भी समझ गये कि उनके दुर्भाग्य का मूल कारण ईसाइयों और मुसलमानों का पारस्परिक द्वेष है। फ्रेंच पादरी तथा फ्रेंच सरकार के एजेन्ट सीरिया के ईसाइयों को राष्ट्रीय आन्दोलन से पृथक् रहने के लिए प्रोत्साहित करते रहते थे। इधर मुस्लिम धर्माचार्य भी फ्रेंच अधिकारियों के लालच देने से द्वेष की अग्नि भड़काया करते थे। इसका फल यह होता था कि मुस्लिम ग्रामों पर ईसाई, और ईसाई ग्रामों पर मुसलमान आक्रमण किया करते थे, और निरीह प्रजा तबाह हो रही थी। अतएव राष्ट्रीय नेताओं ने धार्मिक द्वेष की अग्नि को शान्त करने और धर्माचार्यों के प्रभाव को नष्ट करने का प्रयत्न आरम्भ किया।

फ्रांस के उग्र शासन को देखकर सीरिया में और भी क्षोभ उत्पन्न हुआ। नेताओं ने इस परिस्थिति से लाभ उठाने के लिए विद्रोह कर दिया। फ्रेंच अधिकारियों ने इसका भयंकर दमन किया। देश में फौजी क़ानून जारी किया गया, कितने ही देश-भक्त फांसी के तख्ते पर लटकाये गये, बहुत से निर्वासित किये

गये और अनेक जेलों में बंद कर दिये गये। परन्तु इसका फल यह हुआ कि सीरिया में अपूर्व राष्ट्रीय चैतन्य उदय हुआ, और नवयुवकों के प्राण स्वतंत्रता के लिए व्याकुल हो उठे। सन् १६२४ तक सीरिया में घोर दमन का युग रहा। राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचलने के लिए फ्रेंच सरकार बहुत बड़ी सेना रखती थी, जिसका भार सीरिया को सहन करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त सीरिया में फ्रेंच माल की खपत बड़ी तेज़ी से बढ़ाई जा रही थी। सीरिया के उद्योग-धंधों की उन्नति न होने देना और फ्रांस के माल के लिए बाज़ार तैयार करना साम्राज्यवादी फ्रांस का मुख्य लक्ष्य था। सीरियन नेताओं के बहुत कुछ विरोध करनेपर भी फ्रेंच भाषा राजकीय भाषा बना दी गई, और फ्रेंच सभ्यता का देश में प्रचार करने का भरसक प्रयत्न किया जाने लगा।

सन् १६२५ में एक ऐसी घटना हुई जिससे सारा सीरिया उद्विग्न हो उठा। सन् १६२१ की संधि के अनुसार जबलइद्-द्रुज प्रान्त का गवर्नर जनता का चुना हुआ कोई द्रुज ही हो सकता था। प्रथम गवर्नर के मरने पर हाई कमिश्नर ने एक फ्रांसीसी को वहां का गवर्नर बना दिया। द्रुज नेताओं ने इसका प्रतिवाद करने के लिए एक डेप्युटेशन हाई कमिश्नर के पास ले जाना चाहा, किन्तु डेप्युटेशन को हाई कमिश्नर से मिलने नहीं दिया गया। इसका फल यह हुआ कि सुलतान पाशा के नेतृत्व में क्रान्ति हो गई। यह विद्रोह सारे देश में फैल गया। सुलतान

पाशा तथा उसके भाई सैयद ने राष्ट्रीय सेनाएं लेकर लैबनान पर आक्रमण कर दिया। छः महीने के भीषण युद्ध के उपरान्त लबनान के अतिरिक्त सारा देश विद्रोहियों के हाथ में आगया।

द्रुज विद्रोह कोई असाधारण बात नहीं थी; तुर्कों के समय में भी द्रुज लगभग स्वतंत्र से ही थे। द्रुज लोग अपने को सीरिया का अंग नहीं मानते थे, इस लिए वे ईसाई और मुसलमानों से पृथक् रहते थे। किन्तु इस समय द्रुज नेताओं ने सीरिया की राष्ट्रीय क्रान्ति का भी नेतृत्व किया। सुलतान पाशा और उसके भाई सैयद ने यह घोषणा कर दी कि यह विद्रोह सीरिया को स्वतंत्र करने के लिए किया गया है। इस घोषणा का फल यह हुआ कि विद्रोहियों को देश की सहानुभूति प्राप्त हो गई।

महीनों तक फ्रैंच पत्र संसार को यही धोखा देते रहे कि यह कोई राष्ट्रीय क्रान्ति नहीं है, वरन् कुछ डाकुओं का उत्पात है। यही नहीं, उन्होंने लैबनान प्रान्त के ईसाइयों को शस्त्र बांट दिये, और उन्हें मुसलमानों के विरुद्ध युद्ध करने के लिए उत्साहित किया। एक बार फिर फ्रैंच अधिकारियों ने धार्मिक विद्वेष को भड़काने का प्रयत्न किया। सारा देश विद्रोहियों के हाथ में जा चुका था, यहां तक कि दमिश्क पर भी उनका ही अधिकार था। फ्रैंच अधिकारियों ने उस पर लगातार कई दिनों तक बमवर्षा करके,अधि कार कर पाया। इस विद्रोह की एक विशेषता

यह थी कि मुसलमानों ने ईसाइयों को नहीं सताया। यही नहीं, बम-वर्षा के समय मुसलमानों ने ईसाई मुहल्लों की रक्षा की। फ्रैंच सैनिकों की लूट और अत्याचारों से तंग होकर बहुत से नागरिक, विद्रोहियों की सेना में भरती हो गये। दमिश्क की प्रजा-पार्टी का नेता डाक्टर अब्दुल रहमान, जो भाग कर द्रुज प्रान्त में छिप गया था, विद्रोहियों का प्रबल समर्थक बन गया।

दिसम्बर १९२५ में फ्रेंच सरकार ने जनरल सरेल को वापिस बुला लिया और डी० जांवेनल को हाई कमिश्नर नियुक्त करके भेज दिया। नये हाई कमिश्नर से संधि-चर्चा करने के लिए, दमिश्क के सब दलों और धर्मों के नेताओं ने एक प्रतिनिधि-मण्डल बनाया। उस प्रतिनिधि-मंडल ने शासन-भार लेना तथा संधि करना इस शर्त पर स्वीकार किया कि एक राष्ट्रीय विधान-सभा बुलाई जावे, सीरिया को आन्तरिक मामलों में पूर्ण स्वतंत्रता दे दी जावे, शासन एक सीरियन मंत्री-मंडल द्वारा हो और सीरिया का फ्रांस तथा राष्ट्र-संघ से वही सम्बन्ध हो, जो कि इराक़ का इङ्गलैंड और राष्ट्र-संघ से है।

डी० जांवेलन सीरियन नेताओं को संतुष्ट न करसका, अतएव पोनसोट को हाई कमिश्नर बनाकर भेजा गया। मई १९२६ में मे लैबनान को प्रजातंत्र राज्य घोषित कर दिया गया। लैबनानको पार्लियामेंट, मंत्री-मंडल, तथा प्रेसीडैंट सभी प्राप्त होगये, किन्तु

फ्रांस का प्रभाव ज्योंका त्यों बना रहा। यह प्रजातंत्र खेलवाड़ मात्र था, लैवनान-वासियोंको वास्तवमें कोई अधिकार नहीं मिला लैबनान में मेरोनाइट, ग्रीक, केथोलिक, सुन्नी, शिया और ड्रुज सभी जाति के लोग रहते थे। गैर-ईसाई जातियां सोरिया से मिलना चाहती थीं। १६२७ में फ्रैंच सरकार को, सीरिया की राष्ट्रीय आकांक्षाओं को शान्ति करने के लिए कुछ शासन-सुधार देने पड़े।

यहां एक घटना का, जो सीरिया में बहुत प्रसिद्ध है, उल्लेख कर देना आवश्यक है। सुलतान का भाई सैयद जब अपनी बिद्रोही सेनाओं को लेकर इसबाया नामक ग्राम में घुसा और उसने वहां बिद्रोही सरकार स्थापित करदी, उस समय फ्रैंच सरकार ने ईसाइयों को भड़काया कि यह मुसलमान ईसाइयों को लूटने के लिए दल बांधकर निकले हैं। अतएव तुम्हें फ्रेंच सरकार की, इन विद्रोहियों के विरुद्ध सहायता करनी चाहिये। किंतु इस बार ईसाई धोखे में नहीं आये। और, जब उन्होंने देखा कि बिद्रोही ड्रूज सैनिकों ने एक भी ईसाई को हानि नहीं पहुंचाई तब तो उनका विश्वास और भी दृढ़ होगया। जब फ्रैंच सरकार ईसाइयों को भड़काने में सफल न हुई तो उसने एक मुसलान दरवेश को लालच देकर उस गांव के ईसाइयों को लूट लेने को कहा। दरवेश ने अपने शिष्यों को एकत्रित किया और उन्हें यह कह कर ईसाइयों को मार डालने का आदेश दिया कि वे (ईसाई), विद्रोह के विरुद्ध तथा फ्रांस के समर्थक हैं। परन्तु

राष्ट्रीय भावना का देश में उदय होचुका था, अतः दरवेश के शिष्यों ने अपने पड़ौसी ईसाइयों को लूटने से इंकार कर दिया। इस पर उस देश-द्रोही दरवेश ने इराक के कुछ डाकुओं को इकट्ठा किया और उन्हें शस्त्र देकर ईसाइयों को लूट लेने के लिए उत्तेजित किया। इस प्रकार उस दरवेश ने, जो वास्तव में फ्रांस का वेतन-भोगी एजेंट था, डाकुओं के दल को लेकर उस गांव पर आक्रमण कर दिया। ३२ ईसाई मारे गये और सब घर लूट लिये गये। इसबाया ग्राम के ईसाइयों का, मुसलमानों द्वारा लूट लिये जाने का समाचार देश में फैलते ही विद्रोह धार्मिक युद्ध में परिणत होगया। राष्ट्रीय सेनाओं की शक्ति क्षीण होगई और फ्रांस को दमन करने का सुअवसर प्राप्त होगया। विद्रोह का दमन होजाने पर राष्ट्रीय नेताओं को प्राण-दण्ड दिया गया, और वह दरवेश। (हैमसे) स्वीदा का गवर्नर नियुक्त किया गया। यह उसकी देश-द्रोहिता का पुरस्कार था।

किन्तु पिछले दस वर्षों में सीरिया में महान परिवर्तन हो गया है। राष्ट्रीयता की लहर ने धार्मिक द्वेष की भावनाओं को नष्ट कर दिया है। इसका श्रेय नवयुवकों को है। सीरिया का राष्ट्रीय दल जिसका जन्मदाता अनताऊन सादी है, इस ओर सफलता--पूर्वक कार्य कर रहा है। तीन वर्ष पूर्व इस संस्था के केवल ३०० सदस्य थे, किन्तु अब इस के लगभग एक लाख सदस्य हैं, जिनमें ईसाई और मुस्लिम, युवक तथा युवतियां, सभी सम्मिलित हैं।

ईसाई और मुसलमानों में एकता स्थापित करना तथा धर्माचार्यों का देश पर से प्रभाव हटाना इसका मुख्य उद्देश्य है।

जून १६२८ में सीरियन राष्ट्रीय-विधान-सभा का दमिश्क में अधिवेशन हुआ, जिसमें सीरिया के लिए एक शासन-विधान बनाया गया। उस के अनुसार सीरिया एक प्रजातंत्री राज्य निर्धारित किया गया। मई १६२० में फ्रैंच सरकार ने उस विधान में कुछ संशोधन करके उसे देश में प्रचलित किया। इस के अनुसार सीरियन पार्लियामेंट का चुनाव हुआ, और प्रजातंत्र के प्रेसीडेंट का चुनाव हो जाने के उपरान्त मंत्री-मंडल बना। तदुपरान्त फ्रैंच सरकार ने सीरिया की पार्लियामेंट के सामने संधि का मसविदा उपस्थित किया। उसके अनुसार २५ वर्षों के लिए सीरिया का सैनिक तथा आर्थिक संरक्षण फ्रांस के अधिकार में रहता। साथ ही, सीरिया को बहुत से छोटे-छोटे टुकड़ों में बांटकर सीरिया का अङ्ग भङ्ग कर देने की योजना भी उस मसविदे में मौजूद थी। यद्यपि फ्रैंच अधिकारियों ने सीरियन नेताओं को धमकी दी, और उन पर दबाव डाला, किन्तु पार्लियामेंट ने उस संधि को अस्वीकार कर दिया। तब से बराबर इस सम्बन्ध में चर्चा चलती रही, किन्तु उसका निर्णय न हो सका।

हाई कमिश्नर काऊंट डी. मार्टेल के शासन-काल में स्थिति और भी गंभीर हो गई। इस बार केवल सीरिया में ही नहीं, किन्तु लैबनान के मैरोनाइट जाति के लोगों में भी बहुत असंतोष

फैल गया। बात यह थी कि राजनैतिक कारणों से तो असंतोष था ही, इस बार आर्थिक कारणों ने उसे और अधिक बढ़ाया। योरोपीय महायुद्ध के उपरान्त बहुत से सीरियन उत्तर तथा दक्षिण अमरीका से बहुत सी पूँजी तथा व्यवसायिक अनुभव लेकर लौटे, उन्होंने बहुत से कारखाने खोले किन्तु फ्रैंच अधिकारियों के विरोध करने के कारण वे बंद कर दिये गये। सीरियन नेताओं ने देखा कि टर्की और ईरान ने स्वतंत्रता प्राप्त करके थोड़े ही समय में आश्चर्यजनक औद्योगिक उन्नति करली और सीरिया, जो प्राकृतिक देन से भरा हुआ है, अभी तक अत्यन्त पिछड़ा हुआ है।

नवम्बर १९३५ में फ्रैंच पुलिस ने एक गुप्त षडयंत्रकारी दल का पता लगाया, जिसका संगठन योरोप के फासिस्ट संगठन के आधार पर किया गया था। इस दल का नेता अन्तोन सादा था और इसमें सभी धर्मों के लोग सम्मिलित थे। इस दल के पता लगने से देश में बड़ी हलचल मच गई। अभी यह उत्तेजना शान्त नहीं हुई थी कि दमिश्क में एक हड़ताल हो गई। बात यह थी कि 'फ्रैंच-बेलजियम पब्लिक यूटिलिटी' कम्पनी बिजली का मूल्य बहुत अधिक लेती थी, तथा जनता के साथ उसका व्यवहार अपमान-जनक होता था। अतएव लोगों ने उसके विरोध-स्वरूप हड़ताल कर दी। शीघ्र ही हड़ताल ने राजनैतिक रूप धारण कर लिया, वह सार्वजनिक हो गई, सारा कारोबार

बन्द हो गया। राजनैतिक प्रदर्शन के कारण गोली चलाई गई, बहुत से देश-भक्त सीरियन घायल हुए, और मारे गये। फ्रैंच अधिकारी दमन के द्वारा शान्ति स्थापित करदेना चाहते थे, किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली; सार्वजनिक हड़ताल लगभग छः सप्ताह तक चलती रही। अन्त में अधिकारियों को विवश होकर अपने कृपा-पात्र शेख ताजउद्दीन का गुड़िया मंत्री-मंडल तोड़ना पड़ा। फ्रैंच सरकार ने सीरियन नेताओं को बचन दिया कि सीरिया में पार्लियामेंट की स्थापना होगी, सीरिया-निवासियों की मांगों के आधार पर एक नवीन संधि का मसविदा तैयार किया जावेगा, और सीरिया को राष्ट्र-संघ का सदस्य बनाने में फ्रांस उसकी सहायता करेगा। किन्तु सीरिया-निवासी अब शीघ्र ही फ्रैंच सरकार के बचन का विश्वास करने को तैयार नहीं थे।

यह हड़ताल ऐसी सर्व-व्यापी थी कि एक भी भोजन-गृह या काफ़ी (कहवे) की दूकान नहीं खुली, न कोई सिनेमा चला, न कोई मजदूर या क्लर्क काम पर गया। सीरिया में ऐसी सर्व-व्यापी हड़ताल कभी नहीं हुई थी। सीरिया के इतिहास में यह प्रथम अवसर था जब कि ईसाई और मुसलमान कंधे से कंधा भिड़ाकर देश की स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे थे। फ्रैंच अधिकारियों ने बहुत चाहा कि ईसाई अपनी दुकानें खोलें, उन्हें सेना की सहायता का बचन दिया गया, यहां तक उन्हें धन का लालच भी दिया गया; किन्तु ईसाई इस बार धोखे में नहीं आये। जब फ्रैंच अधिकारी ईसाई दूकानदारों को इस प्रकार दूकानें खोलने पर

तैयार न कर सके तो उन्होंने सेना को नगर में भेज दिया। सैनिकों ने ईसाइयों की दूकानों के ताले तोड़ दिये और उनसे दूकान खोलने को कहा, परन्तु फिर भी ईसाइयों ने दूकानें न खोलीं। हड़ताल ऐसी अभूत-पूर्व थी कि बिना ताले की दुकानों में से भी किसी ने कोई चीज़ न चुराई। इस समय सीरिया में प्रथम बार मैरोनाइट ईसाइयों के धार्मिक गुरू बड़े पादरी का संदेश-पत्र ओमयाद् मस्जिद में पढ़ा गया। हड़ताल के दिनों में ईसाई और मुसलमानों के सम्मिलित जलूस ईसाइयों के प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान बाब-तूमा से प्रति दिन निकलते थे।

उन दिनों केवल एक ही अवसर ऐसा आया जब कि ईसाई और मुसलमानों में झगड़ा हो जाने की सम्भावना थी, किन्तु दोनों पक्ष के नेताओं ने स्थिति को संभाल लिया। बात यह थी कि एक ईसाई युवक के शव का, जो पुलिस के हाथों मारा गया था, जलूस निकल रहा था। जलूस में ईसाई और मुसलमान बहुत बड़ी संख्या में सम्मिलित हुए थे। कुछ मुसलमान गुंडों ने शव पर पत्थरों की वर्षा कर दी। जलूस में इससे बड़ी उत्तेजना फैल गई किन्तु ईसाई और मुसलमान नेताओं को यह समझने में देर न लगी कि यह फ्रेंच सरकार करा रही है। अस्तु, उन्होंने जन-समूह को यह दिखलाने के लिए कि धर्म राष्ट्रीय एकता को अब नष्ट नहीं कर सकता, अपने अपने सिरों की पोशाक (जो धार्मिक आधार पर भिन्न-भिन्न होती है) उतार कर फैंक दी। दूसरे ही दिन यह खबर सारे देश में फैल गई कि फ्रेंच सरकार के

एजेंट शेख़ ताज ने ईसाई युवक के शव पर पत्थर फिंकवाये थे। मुसलमानों ने शेख़ ताज को बहुत धिक्कारा, और उसकी निन्दा में एक गीत बनाया जिसका आशय था कि अल्लाह के अतिरिक्त दूसरा कोई परमेश्वर नहीं है, ईसाइयों का धर्म-गुरू अल्लाह का प्यारा है और शेख़ ताज पर अल्लाह का श्राप है। नव जागृत सीरिया में राष्ट्रीय चैतन्य कहां तक उदय हो गया है, यह इस घटना से ज्ञात हो जाता है। अब सीरिया भिन्न-भिन्न जातियों और धर्मों के मानने वालों के लड़ने का क्षेत्र नहीं रहा है, वहां के निवासी राष्ट्रीय एकता के सूत्र में बंध गये हैं।

इस लम्बी हड़ताल और आश्चर्य-जनक राष्ट्रीयता के सामने साम्राज्यवादी फ्रांस को झुकना पड़ा। १ मार्च १९३६ को फ्रेंच सरकार के प्रतिनिधि, और सीरिया के राष्ट्रीय नेताओं के बीच एक समझौता हुआ, उसके फल-स्वरूप सीरिया के नेताओं का एक प्रतिनिधि-मंडल, हाशिम बे-अल-अतासी के नेतृत्व में, फ्रेंच सरकार से संधि की शर्तें तय करने के लिए पैरिस गया। बहुत दिनों तक बातचीत होने के बाद, ९ सितम्बर १९३६ को दोनों पक्षों ने संधि पर हस्ताक्षर कर दिये।

संधि की मुख्य शर्तें इस प्रकार हैं:--संधि के लागू होने से तीन वर्ष के उपरान्त शासनादेश का अन्त हो जावेगा। उस समय सीरिया राष्ट्र संघ का सदस्य बन जावेगा। फ्रेंच हाई कमिश्नर भविष्य में सीरिया में नहीं रहेगा, उसके स्थान पर एक

फ्रेंच राजदूत रहेगा और सीरिया का एक राजदूत पैरिस में रहा करेगा। तीन वर्ष के बाद अर्थात् ९ सितम्बर १९३९ से पच्चीस वर्ष तक सीरिया तथा फ्रांस का संबंध इस संधि के अनुसार रहेगा, उसके उपरान्त नवीन संधि हो सकेगी। नवीन सीरिया के राज्य में लाटेक तथा द्रुजेज़ के प्रान्त भी सम्मिलित रहेंगे, किन्तु उन प्रान्तों को आन्तरिक मामलों में बहुत-कुछ स्वतंत्रता होगी। फ्रेंच सेनाएं, जो सीरिया पर अधिकार बनाये रखने के लिए रक्खीं गई थी, कम करदी जावेंगी, और जो बचेंगी, वे केवल कुछ ज़िलों में ही रहेंगी। सीरिया का शासन वहां के ही लोगों के हाथ में रहेगा। विदेशों में सीरिया का प्रतिनिधित्व उसके मंत्री करेंगे, राष्ट्रीय सेना का निर्माण किया जावेगा, और जो सीरियन देश-भक्त राजनैतिक हलचलों में भाग लेने के कारण निर्वासित हैं, अथवा जेल में हैं, उन्हें क्षमा कर दिया जावेगा। वैदेशिक तथा सैनिक नीति में दोनों देशों की सरकारें एक दूसरे के सहयोग से काम करेंगीं। फ्रांस अल्प संख्यक (अर्थात ईसाई) जातियों के प्रति बहुसंख्यक जाति द्वारा दी गई गारंटी को पूर्ण रूप से कार्य-रूप में परिणत कराने के अभिप्राय से, उनके हितों की देख-भाल करेगा। फ्रेंच सरकार दमिश्क में एक सैनिक मिशन क़ायम करेगी, जो सीरिया की राष्ट्रीय सेना को शिक्षा देगा। सीरिया की सेना के लिए आवश्यक सामग्री फ्रांस से ही मोल ली जावेगी। यदि कभी सीरिया की सरकार को वैज्ञानिक सलाहकारों की आवश्यकता पड़ी तो वह फ्रांस के

विशेषज्ञों को ही नियुक्त करेगी। फ्रांस के नागरिकों तथा फ्रेंच कंपनियों को सीरिया में जो विशेष आर्थिक सुविधाएं प्राप्त हैं, वे ज्यों की त्यों रहेंगीं।

परन्तु अभी तक एक महत्व-पूर्ण प्रश्न का निपटारा नहीं हुआ है। सीरिया के इस नव-निर्मित प्रजातंत्र का क्षेत्रफल १,५१,४०० वर्ग किलोमीटर* है; इसकी वर्तमान सीमाओं के बाहर १०,००० वर्ग किलोमीटर भूमि जो अत्यन्त उपजाऊ है, और जिसमें सीरिया के प्रमुख बंदरगाह स्थित हैं, समुद्र-तट पर फैली हुई है। फ्रेंच सरकार ने इस भू-भाग को अपनी संरक्षकता में एक प्रजातंत्र राज्य बना दिया है। इसमें प्राचीन लेबनान के पहाड़ी इलाक़ों (जिनमें अधिकांश ईसाई निवासी हैं) के अतिरिक्त सीरिया के चार ज़िले, जिनमें अधिकतर मुसलमान रहते हैं, जोड़ दिये गये हैं। इन ज़िलों के मुसलमान, ग्रीक तथा नवयुवक मैरोनाइट (समुद्र-तट के रहने वाले, जो अधिकांश में ईसाई हैं) अपने देश को सीरिया के राष्ट्र का एक अङ्ग मानते हैं। सीरिया के नेता भी लेबनान को सीरिया का ही एक प्रदेश मानते हैं। किन्तु फ्रांस लेबनान को सीरिया से बिलकुल पृथक् प्रजातंत्र राज्य बना देने पर तुला हुआ है। वह इस नवीन प्रजातंत्र से संधि करके वहां का भी शासनादेश समाप्त कर लेना चाहता है। संधि पर हस्ताक्षर करते हुए सीरिया के नेता हाशमी

* एक किलोमीटर लगभग पांच फ़रलांग के बराबर होता है।

बे-अल-अतासी ने घोषणा की थी कि हम लेबनान के भविष्य की ओर से उदासीन नहीं रह सकते, क्योंकि बहुत प्राचीन समय से सीरिया और लेबनान की संस्कृति तथा भाषा एक है।

सन् १६३६ की संधि के अनुसार सीरिया को जो स्वतंत्रता प्राप्त हुई, वह नाम-मात्र की स्वतंत्रता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि इस संधि द्वारा फ्रांस का संरक्षण सीरिया पर से पूर्णतः उठ गया; किन्तु यह तो प्रत्येक विचारवान व्यक्ति को मानना होगा कि सीरिया ने इस संधि से अपनी पूर्ण स्वतंत्रता की ओर एक महत्वपूर्ण कदम उठाया है।

अभी तक सीरिया में निवास करने वाली भिन्न-भिन्न जातियों में पूर्ण सद्भावना तथा एकता स्थापित नहीं हो पाई है। आटोमन तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत तुर्कों के शासन काल में उनके द्वारा ईसाई तथा ग़ैर-मुस्लिम जातियों पर किये गये अत्याचारों को वृद्ध ईसाई अभी भी भूले नहीं हैं। इसी कारण वहां पूर्ण रूप से एकता स्थापित नहीं हो पाई है। जिस दिन सीरिया में पूर्ण एकता स्थापित हो जावेगी, उसी दिन सीरिया पर से फ्रांस का शेष प्रभुत्व भी लुप्त हो जावेगा, और सीरिया पूर्ण स्वतंत्र हो जावेगा।

पैलेस्टाइन

फारस से पश्चिम की ओर बढ़िये और यूफ्रेटीज और टायग्रीज को पार कीजिये तो आप अपने को सीरिया और पैलेस्टाइन

के उपजाऊ प्रान्तों में खड़ा पायेंगे। फारस और अरब प्रायद्वीप की विस्तृत मरु-भूमि और उजाड़ खण्डों के बीच सीरिया तथा पैलेस्टाइन का प्रदेश बनस्पति से सजा हुआ मानों थके हुए यात्री का स्वागत करने को खड़ा है। पैलेस्टाइन वह प्रदेश है जिस पर आज संसार की दृष्टि जमी हुई है। जेरुसलम इसी की राजधानी है—इस नगर ने भी न जाने कितने हेर-फेर देखे हैं।

सालोमन के वैभव-पूर्ण समय में यही नगर यहूदी राज्य की राजधानी था। ईसा के सत्तर वर्ष पूर्व जब रोमन सेनाओं ने इस प्रदेश को विजय कर लिया, तब यहूदी जाति अपनी मातृ-भूमि को सर्वदा के लिए छोड़ देने पर विवश हुई और भिन्न-भिन्न देशों में जाकर बस गई। यद्यपि यहूदियों को अपना देश सदा के लिए छोड़ देना पड़ा, वे उसे तथा अपनी भाषा (हैब्र्) तथा धर्म को नहीं भूले। आज संसार में यहूदियों की संख्या लगभग दो करोड़ है, और ऐसा कोई भी देश नहीं है कि जहां वे थोड़े बहुत न पाये जाते हों। यहूदी जाति में अभूतपूर्व जीवन-शक्ति है, इस जाति ने संसार को बड़े-बड़े व्यवसायी, राजनीतिज्ञ, वैज्ञानिक, लेखक तथा सामाजिक नेता दिये हैं। यद्यपि शताब्दियां व्यतीत हो गईं, और भिन्न-भिन्न देशों में बसकर यह लोग उन देशों के निवासियों से घुल मिल गये, परन्तु वे अपने पूर्वजों के देश पैलेस्टाइन को न भूल सके। संसार के इतिहास में ऐसा उत्कट देश-प्रेम किसी अन्य जाति में मिलना कठिन है।

मुहम्मद साहब के उदय के उपरान्त पैलेस्टाइन पर अरब के खलीफाओं का आधिपत्य हो गया और वह अरबों का देश बन गया। सन् १५१६ ईसवी तक पैलेस्टाइन अरबों के अधिकार में रहा। उस वर्ष उस समय का महाप्रबल मुस्लिम शासक ओर-मनाली सुलतान सलीम प्रथम अपने दुर्दमनीय सैनिकों को लेकर एशिया मायनर पर चढ़ आया और उसने पैलेस्टाइन, सीरिया तथा इराक़ को विजय करके तुर्की साम्राज्य में मिला लिया। उस दिन से अन्य अरब प्रान्तों की भांति पैलेस्टाइन भी तुर्कों के हाथ में चला गया। १६१८ तक तुर्क इस देश पर शासन करते रहे। योरोपीय महायुद्ध के उपरान्त यह देश अंग्रेज़ों के अधिकार में आ गया। इतने उलट-फेर देखने के उपरान्त भी पैलेस्टाइन की समस्या हल होती नहीं दिखलाई देती।

यद्यपि लगभग दो हज़ार वर्ष व्योत हो गये जबकि यहूदियों को अपना प्यारा देश छोड़ना पड़ा था, परन्तु वे उसको भूले नहीं थे। वे सदैव पैलेस्टाइन में जाकर बसने के स्वप्न देखा करते थे। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि उनकी जातीय उन्नति के लिए पैलेस्टाइन से सम्बन्धित रहना अत्यन्त आवश्यक है। उन दिनों भी जब कि पैलेस्टाइन तुर्कों के अधीन था, यहूदी लोग आ आकर पैलेस्टाइन में बसते थे। यहूदियों में पैलेस्टाइन में जाकर बसना एक राष्ट्रीय तथा धार्मिक कर्तव्य समझा जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी में योरोपीय देशों में जो राष्ट्रीयता की प्रबल लहर उठी, उसने यहूदियों को भी प्रभावित

किया, और उनकी अपने देश को फिर से प्राप्त करने की इच्छा राष्ट्रीय आन्दोलन के रूप में प्रगट हुई। अब संसार भर के यहूदी पैलेस्टाइन में अपना जातीय घर बनाने के लिए आन्दोलन करने लगे। इसका फल यह हुआ कि योरोपीय महायुद्ध के बहुत पहले ही छोटे-छोटे यहूदियों के दल पैलेस्टाइन में अपने गांव बनाकर बसने लगे।

सन् १८९७ में ज़िनोइस्ट आन्दोलन के नेता थ्योडर हर्ज़ल के प्रयत्न से बेसल नगर में प्रथम ज़िनोइस्ट कांग्रेस हुई। इस में संसार के प्रत्येक भाग से यहूदियों के प्रतिनिधि आये, और, उन्होंने यह घोषणा की कि पैलेस्टाइन में यहूदियों के लिए एक जातीय घर स्थापित करना हमारा ध्येय है। दो हज़ार वर्ष के उपरान्त संसार के प्रत्येक देश में बिखरे हुए यहूदियों का संगठन हो गया और उन्होंने ज़िनोइस्ट आन्दोलन इस ढंग से चलाया कि यहूदियों का प्रश्न संसार का एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न बन गया। इस आन्दोलन के कारण यहूदियों को न केवल पैलेस्टाइन में बसने की सुविधा मिल गई, वरन् उनमें नव-चैतन्य भी दृष्टिगोचर होने लगा। पिछले तीस वर्षों में इनमें अभूत-पूर्व नव-जीवन-संचार हुआ है। यहूदियों के विषय में जितना साहित्य संसार की भिन्न-भिन्न भाषाओं में इस समय उत्पन्न हुआ, उतना कभी नहीं हुआ था। यहूदियों की भाषा हिब्रू तथा इदिश का साहित्य-भण्डार भी इस आन्दोलन के

कारण खूब ही उन्नत हुआ। इस आन्दोलन का प्रभाव यहूदियों की संगीत तथा वस्तु-कला पर भी पड़ा।

योरोपीय महायुद्ध में टर्की ने मित्र-राष्ट्रों के शत्रु जर्मनी का साथ दिया। फ्रांस और ब्रिटेन टर्की के अरब-प्रान्तों पर गिद्ध-दृष्टि लगाये ही हुए थे, यह स्वर्ण-अवसर उनके हाथ में आगया, और अंग्रेज़ी सेनाएं पश्चिमीय एशिया में कूच करती दिखलाई देने लगीं। चतुर-शिरोमणि कर्नल टी. ई. लारेंस (जिसका कुछ वर्ष हुए, स्वर्गवास हो गया) उस समय अरब-प्रदेश के शासकों और नेताओं को अपने खलीफा के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए उकसा रहा था। अरबों को, विजय हो जाने के उपरान्त, स्वतंत्रता प्रदान करने का लालच दिया गया। और, उनकी सहायता से ब्रिटिश सेनाओं ने टर्की के अरब-प्रान्तों पर अधिकार कर लिया।

महायुद्ध के समाप्त हो जाने के उपरान्त अरबों की आशा के प्रतिकूल, मित्र-राष्ट्रों ने १९२० में सानरेमो की संधि के अनुसार सीरिया को फ्रांस का, और पैलेस्टाइन, ट्रांस-जार्डन, तथा मैसोपाटैमिया को ब्रिटेन का रक्षित राज्य घोषित कर दिया। अब अरबों की आंखें खुलीं, टर्की के स्थान पर ईसाई राष्ट्रों का आधिपत्य हो गया। पैलेस्टाइन की दशा और भी ख़राब हो गई।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि ब्रिटेन के तत्कालीन पर-राष्ट्र सचिव लार्ड बैलफोर ने १९१७ में यह घोषणा करदी

थी कि ब्रिटेन पैलेस्टाइन को यहूदियों का जातीय गृह बनाने के पक्ष में है। अन्य मित्र-राष्ट्रों ने भी इस घोषणा का समर्थन किया। बात यह थी कि यहूदियों ने (जिनमें धन-कुबेर, वैज्ञानिक, तथा सैनिक मुख्य थे) महायुद्ध में मित्र-राष्ट्रों की बहुत सहायता की थी, और उसके प्रतिफल-स्वरूप वे पैलेस्टाइन में बसने का अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार मांगते थे। अतः महायुद्ध के उपरान्त, ब्रिटेन और फ्रांस के बनाये हुए खिलौने राष्ट्र-संघ ने पैलेस्टाइन पर शासनादेश देते हुए वहां यहूदियों का जातीय घर बनाने की भी शर्त रखदी।

अब क्या था, हजारों की संख्या में यहूदी, अंग्रेजों की सहायता से, पैलेस्टाइन में आकर बसने लगे। पैलेस्टाइन के अरब इस भावी विपत्ति का कुछ-कुछ अनुमान करने लगे थे, अतएव उन्होंने यहूदियों के इस आगमन का विरोध किया। इङ्गलैंड में डैपुटेशन भेजा, अनुनय-विनय की, बहुत-कुछ पत्र-व्यवहार किया, किन्तु यहूदियों का प्रवाह न रुका और वे अधिकाधिक संख्या में आकर बसने लगे। हां, ३ जून १६२२ को ब्रिटिश सरकार ने यह घोषणा की कि "यहूदियों के जातीय घर होने का यह अर्थ नहीं है कि पैलेस्टाइन में अरब सभ्यता, भाषा तथा संस्कृति का नाश हो जावेगा और यहूदियों की प्रधानता हो जावेगी। वरन् इसका अर्थ यह है कि यहूदी वहां रह कर अपनी भाषा संस्कृति तथा सभ्यता का विकास कर सकें और पैलेस्टाइन को अपना घर समझ सकें। वास्तव में बेलफोर घोषणा का अर्थ

यह है कि दोनों जातियां एक साथ रहें और उनके अधिकार एक समान हों। आज दोनों जातियां इस तथ्य को मानने के लिए तय्यार नहीं हैं, परन्तु पैलेस्टाइन की पूर्ण उन्नति तब तक नहीं हो सकती जब तक कि दोनों जातियां इस बात को स्वीकार न कर लें।"

योरोपीय महायुद्ध के उपरान्त प्रति वर्ष अधिकाधिक यहूदी, नियमानुसार विदेशों से आकर पेलेस्टाइन में बसने लगे। १९३६ के विद्रोह के पूर्व इन नवागन्तुकों की संख्या लगभग तीन लाख हो गई थी।

यह यहूदी अपने साथ पश्चिमीय ढंग के उद्योग धंधे और आर्थिक संगठन लाये। और, इनका अरबों के आर्थिक और सामाजिक जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा है। अरब भी आधुनिक औद्योगिक संस्थाओं को अपनाने लगे हैं। यहूदी नेता बड़े ही दूरदर्शी थे, उन्होंने देखा कि यदि यहूदी, नगरों में ही आकर बसने लगे और केवल उद्योग-धंधों और व्यापार में ही लगे रहे तो हमारा पांव यहाँ स्थायी रूप से न जम सकेगा, और न हमारी सांस्कृतिक, साहित्यिक, राष्ट्रीय तथा आर्थिक उन्नति ही होसकेगी। अतएव उन्होंने यहूदियों को खेती-बारी में लगाना आवश्यक समझा। इसी उद्देश्य को लेकर आरम्भ से ही उन्होंने कृषि-उपनिवेश बसाना शुरू किया। किन्तु यह कार्य सरल नहीं था। विदेशों से आने वाले तथा पैलेस्टाइन में रहने वाले यहूदी

अधिकांश में व्यापारी तथा व्यवसायी थे, उनके पेशे को बदलना आसान नहीं था। विदेशों से आने वाले यहूदियों को पैलेस्टाइन के जलवायु तथा भूमि का तनिक भी अनुभव नहीं था, फिर पीढियों के व्यापारिक अनुभव को छोड़कर खेती-बारी सीखना कठिन ही था, तथापि यहूदियों ने बड़े उत्साह से नवीन जीवन स्वीकार किया।

यह तो प्रत्येक निश्पक्ष समालोचक को कहना पड़ेगा कि यहूदियों में अद्भुत संगठन शक्ति है, भिन्न-भिन्न देशों से आकर बसने वाले यहूदियों ने, जो खेती-बारी के विषय में अनभिज्ञ थे, ऐसे आदर्श कृषि-उपनिवेश स्थापित किये हैं कि उन्हें देखकर आश्चर्य से चकित रह जाना पड़ता है। सहकारिता के सिद्धान्त की इन उपनिवेशों में पराकाष्टा हो गई है। अरबों की भांति प्रत्येक यहूदी छोटे-छोटे खेतों को नहीं जोतता। खेती सामूहिक होती है, और इसलिए वैज्ञानिक ढङ्ग से होती है। भूमि को अधिकाधिक उपजाऊ बनाने का प्रयत्न किया जाता है, सिंचाई इत्यादि अन्य सब कार्य आधुनिक ढङ्ग से किये जाते हैं। उपनिवेश में रहने वाले यहूदी-कुटुम्ब सामूहिक भोजन-गृहों में भोजन करते हैं। शिक्षा, मनोरंजन, तथा व्यायाम के साधन भी सामूहिक सहकारिता के सिद्धान्त के आधार पर उपलब्ध किये गये हैं। प्रत्येक उपनिवेश मानों एक बड़ी गृहस्थी है। ऐसा सुन्दर संगठन और कहीं मिलना कठिन है। यही नहीं, अधिकांश भूमि, जिस पर यह उपनिवेश स्थापित किये गये हैं, यहूदियों के

राष्ट्रीय फंड से खरीदी गई है, अतः वह समस्त यहूदी जाति की सामूहिक सम्पत्ति है। केवल खेती में ही यहूदियों ने उन्नति की हो, यह बात नहीं है, उद्योग-धंधों में भी उन्होंने आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की है। उनके कारखाने भी सहकारी उत्पादक संस्थाएँ हैं, जिनमें एक पूंजीपति हज़ारों श्रमजीवियों का शोषण नहीं करता। यहूदियों ने चिकित्सा का भी अत्यन्त सुन्दर प्रयत्न किया है। प्रत्येक यहूदी लड़का या लड़की स्कूल में पढ़ने अवश्य जाता है। उनकी भाषा हिब्रू है, वह केवल साहित्यिक भाषा ही नहीं है, वरन् बोलचाल की भी भाषा है। १६२५ में यहूदियों ने तल-अविव नामक नगर में एक हिब्रू विश्व-विद्यालय की स्थापना की, जो प्रथम श्रेणी के किसी भी विश्व-विद्यालय से समता कर सकता है।

यहूदियों ने बहुत बड़ी मात्रा में अंगूर, नारंगी तथा केले की खेती करना आरम्भ कर दिया है। वे अंगूर की शराब तैयार करते हैं। यहूदी बहुत धनी हैं। इसके विपरीत, अरब अत्यन्त निर्धन हैं, और किसी प्रकार आलू, शहद, घी और दूध उत्पन्न करके अपना पेट पालते हैं। यहूदियों ने तल-अविव नामक एक नवीन यहूदी नगर बसाया है, यह थोड़े से समय में बहुत विशाल बन गया है। यहां एक लाख तीस हजार से अधिक यहूदी रहते हैं। नगर में बिजली, टेलीफोन, पार्क, रेलवे स्टेशन, कारखाने, पुस्तकालय, स्कूल, स्नान-गृह तथा औषधालय सभी आधुनिक सुविधाएं मौजूद हैं। इस नगर के चारों ओर मीलों

तक अंगूर तथा नारंगी के बाग फैले हुए हैं। यहूदी बहुत बड़ी राशि में नारङ्गी तथा अंगूर और शराब योरोप, विशेषकर इङ्गलैंड, भेजते हैं। यहूदियों की इस सफलता का कारण यह है कि उनके पास पूंजी है, और व्यवसायिक बुद्धि भी है।

आरम्भ में अरबों ने यहूदियों का मौखिक विरोध किया। वे चाहते थे कि बैलफोर की घोषणा वापस ले ली जावे। विरोध प्रदर्शन करने के लिए अरबों ने लैजिस्लेटिव कौंसिल तथा अन्य किसी भी प्रतिनिधि सभा के चुनाव में भाग लेना अस्वीकार कर दिया। इसका फल यह हुआ कि हाई कमिश्नर, लैजिस्लेटिव कौंसिल के बिना, स्वयं ही शासन करने लगा। क्रमशः पैलेस्टाइन के अरबों में भी सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा है। अभी तक अरबों में भू-स्वामियों और बड़े खानदान वालों का ही प्राधान्य था, वे ही समाज के नेता माने जाते थे, किन्तु अब मध्यम शिक्षित वर्ग समाज का नेतृत्व करने लगा है। कई बार अरबों ने पैलेस्टाइन में अरब-कांग्रेस का अधिवेशन बुलाया; उसकी कार्य-कारिणी समिति जेनेवा तथा लन्दन की सरकारों से राजनैतिक बातचीत करती है। पैलेस्टाइन के अरबों का एक दल तो सीरिया से मिलना चाहता है, और दूसरा दल अरब-संघ में सम्मिलित होना चाहता है। परन्तु अंग्रेजों का शासनादेश समाप्त करने के पक्ष में तो प्रत्येक अरब है। अरब पहले से ही यहूदियों के आगमन के विरोधी रहे हैं। किन्तु १६२० से १६२५

तक पैलेस्टाइन का हाई कमिश्नर सर हर्बर्ट सैम्युअल था, वह अत्यन्त गम्भीर तथा शान्त राजनीतिज्ञ था, अतएव अपने शासन-काल में उसने ऐसी कोई बात नहीं होने दी, जिससे अरबों का विरोध अधिक उग्र रूप धारण करे।

अस्तु, विरोध किये जाने पर भी यहूदियों का पैलेस्टाइन में आना रुक नहीं रहा था। यहूदियों के पास पूंजी थी; यद्यपि जो यहूदी पैलेस्टाइन में आये वे स्वयं बहुत धनी नहीं थे, उनके जातीय फंड में बहुत रुपया था, वे उपजाऊ भूमि को धीरे धीरे निर्धन अरबों से मोल लेकर अपने अधिकार में करते जा रहे थे। अरबों की भूमि क्रमशः उनके हाथों से निकलती जा रही थी। उन्होंने देखा कि यदि यही ढंग रहा तो वे यहूदियों के मज़दूर होकर रहेंगे। अनुनय विनय सब व्यर्थ हो चुकी थी, मौखिक विरोध भी असफल होचुका था, अब तो केवल विद्रोह ही एक उपाय था। अस्तु, सन् १९२५ में अरबों ने विद्रोह कर दिया। यहूदियों की फसल तथा घर नष्ट किये जाने लगे और उनकी हत्या की जाने लगी। अंग्रेज़ी सरकार ने घोर दमन किया, बहुतों को फांसी, क़ैद और निर्वासन का दंड मिला। पश्चात् विद्रोह शान्त हुआ। १९३० में फिर भयंकर विद्रोह उठ खड़ा हुआ। मार्शल-ला जारी कर दिया गया, सैकड़ों की संख्या में अरब मारे गये, घोर दमन हुआ, और एक बार फिर विद्रोह शान्त हो गया। ब्रिटिश सरकार ने पैलेस्टाइन की राजनैतिक स्थिति की जांच करने के लिए एक कमीशन नियुक्त किया,

उसने अपनी रिपोर्ट में इस बात को स्वीकार किया कि यहूदियों का आगमन पिछले दिनों में बहुत तेजी से हुआ है, इस कारण अरब सशंक हो उठे हैं। तल-अविव में जहां यहूदियों की आबादी एक लाख तीस हज़ार से अधिक है, ग़ैर-यहूदी लगभग नहीं के बराबर हैं। यहूदी गैर-यहूदियों को न तो नौकर रखते हैं और न ग़ैर-यहूदी व्यापारियों तथा दूकानदारों से कुछ खरीदते ही हैं। इस लिए अरबों को यह भय होने लगा है कि यदि कभी भविष्य में यहूदियों की संख्या बढ़ गई तो गैर-यहूदियों का यहां रहना असम्भव हो जावेगा। १६३१ से ब्रिटिश सरकार की नीति यह रही कि उन्हीं यहूदियों को देश में आने दिया जावे जिनके पास पैलेस्टाइन में लगाने को एक निश्चित पूंजी हो।

यह सब कुछ होने पर भी यहूदियों का पैलेस्टाइन में आना न रुका। सन् १६३३ तथा उसके उपरान्त जर्मन नाज़ियों ने यहूदियों पर जो अमानुषिक अत्याचार किये, उसके फल-स्वरूप बहुत से यहूदी पैलेस्टाइन में आकर बस गये। इसकी प्रतिक्रिया १६३६ में हुई। उस समय जो अरब राष्ट्रीयता का ज्वालामुखी पैलेस्टाइन में फूट पड़ा, उसका वेग अत्यन्त प्रबल था। पिछले सब विद्रोहों से इस बार का विद्रोह अधिक सुसंगठित तथा शक्तिवान था। रेलवे लाइनें उखाड़ डाली गईं, यहूदियों और अंग्रेजों पर आक्रमण किया गया, बहुत से यहूदी मारे गये, उनकी फसलें और सम्पत्ति नष्ट की गईं। तत्कालीन

हाई कमिश्नर सर वाऊचहैफ ने कठोरता-पूर्वक दमन किया। कई महीनों तक सैनिक शासन रहा, परन्तु फिर भी विद्रोह शान्त नहीं हुआ। इस बार के विद्रोह का संचालन अरब-हाई-कमेटी ने किया था। अन्त में १२ अक्तूबर १६३६ को इराक़ के गाज़ी तथा इब्न-सऊद के अपील करने पर अरब-हाई-कमेटी ने विद्रोह को रोक दिया। ब्रिटिश पार्लियामेंट ने लार्ड पील की अध्यक्षता में एक कमीशन पैलेस्टाइन की दशा की जांच करने के लिये भेजा।

इस कमीशन की रिपोर्ट ने पैलेस्टाइन के इतिहास का एक परिच्छेद बन्द कर दिया, और दूसरे परिच्छेद का सूत्रपात किया है। कमीशन ने सर्व सम्मति से यह सिफारिश की कि पैले-स्टाइन का वर्तमान शासनादेश समाप्त कर दिया जाना चाहिए; और, पैलेस्टाइन को तीन भागों में बांट देना चाहिए। यरुशलम, तथा बैथलेहम की समीपर्ती भूमि के साथ समुद्रीय तट की पतली पट्टी और नाज़रथ के चारों ओर की भूमि पर ब्रिटेन को एक नया शासनादेश देदिया जाना चाहिए। इस नवोन शाशनादिष्ट प्रदेश पर बैलफोर की घोषणा लागू नहीं होगो। शेष पैलेस्टाइन तथा ट्रांस-जार्डन को दो स्वतन्त्र राज्यों में विभाजित कर देना चाहिए। पश्चिम तथा उत्तर में अपेक्षाकृत एक छोटासा स्वतत्र यहूदी राज्य तथा पूर्व-दक्षिण में अरब राज्य स्थापित होजाना चाहिए। अरब राज्य में ट्रांस-ज़ार्डन तथा पैलेस्टाइन के वह भाग जो कि यहूदी राज्य में सम्मिलित नहीं होंगे, रक्खे जावेंगे।

कमीशन का यह निश्चित मत है कि पैलेस्टाइन के बँटवारे से ही वहां स्थायी शांति स्थापित हो सकती है। किन्तु इस बँटवारे के अनुसार लगभग ढाई लाख अरब यहूदी राज्य में रह जावेंगे, और थोड़े से यहूदी अरब-राज्य में रहने पर बिवश होंगे। भविष्य में यदि दोनों राज्य चाहें तो समझौता करके जनसंख्या का विनिमय कर सकते हैं। जिस प्रकार टर्की ने यूनानियों को देकर तुर्कों को लेलिया, उसी प्रकार अरब-राज्य यहूदियों को यहूदी राज्य में वापिस भेज कर वहां के अरबों को ले सकता है। परन्तु इस विनिमय में आर्थिक तथा अन्य बहुत सी कठिनाइयां उपस्थित होंगी, अतएव यह सम्भव नहीं होगा।

कमीशन की रिपोर्ट के प्रकाशित होते ही पैलेस्टाइन में तीव्र उत्तेजना फैलगई। यहूदी और अरब दोनों ने ही इस बटवारे का विरोध किया और दोनों ही जातियों ने इसको न्याय के बिरुद्ध बतलाया। फिर भी प्रतीत ऐसा होता है कि थोड़े से परि-वर्तन के साथ, इस योजना को यहूदी तो सम्भवतः स्वीकार कर लेंगे, किन्तु अरब किसी प्रकार भी इसको मानने को तैयार नहीं हैं। यही नहीं, अन्य अरब तथा मुस्लिम देशों ने भी इसका एक स्वर से विरोध किया है। राष्ट्र-संघ में जब कमीशन की रिपोर्ट उपस्थित की गई तब मिस्र, ईरान तथा ईराक़ के प्रतिनिधियों ने बँटवारे का घोर विरोध किया। हां, सौदी अरेबिया अवश्य तटस्थ रहा। सितम्बर १९३७ में ब्लूदन में जो 'पान-अरब' कांग्रेस हुई थी, उसमें भी एक प्रस्ताव इस आशय का पास किया

गया था कि पैलेस्टाइन पितृ-देश अरब का ही अंग है, और अरब जाति इस बँटवारे को अस्वीकार करती है। राष्ट्र-संघ ने इस सम्बन्ध में कोई अन्तिम निश्चय नहीं किया, किन्तु ब्रिटेन को बंटवारे की योजना बनाने की आज्ञा देदी।

इधर पैलेस्टाइन में फिर उपद्रव आरम्भ हो गया, अंग्रेज़ों और यहूदियों पर हमले होने लगे। २६ सितम्बर १६३७ को नाज़रथ में श्री० ऐन्ड्रूज़ की हत्या कर दी गई। उनके साथ एक ब्रिटिश सैनिक को भी मारा गया। अब अंग्रेज़ अधिकारियों ने फिर दमन का सहारा लिया, १ अक्तूबर को छः प्रमुख अरब नेता पकड़े गये, और उनमें से पांच को देश-निकाला दिया गया। अरब-हाई-कमेटी तथा उसकी शाखाएँ ग़ैर-क़ानूनी घोषित कर दी गईं। यरुशलम के ग्रान्ड-मुफ़्ती (हज़-अल-हुसेनी) को सुप्रीम मुस्लिम कौंसिल के प्रधान पद से हटा दिया गया। मुफ़्ती भागकर ओमर की मसजिद में छिप गया, और पैलेस्टाइन से निकल गया। मुफ़्ती अरबों का सर्वमान्य नेता था और देश में उसका बड़ा प्रभाव था। इस समय वह बाहर से पैलेस्टाइन के अरब-विद्रोह का संचालन कर रहा था।

पैलेस्टाइन में फिर उपद्रव उठ खड़े होने के कारण बंटवारे की योजना को व्यवहारिक रूप देने के लिए जो कमीशन आने वाला था, वह उस समय तक के लिए रुक गया, जब तक कि वहां शान्ति स्थापित न हो। २८ अक्तूबर १६३७ को हाई कमिश्नर वाऊचहॅफ ने अपना पद त्याग दिया।

सितम्बर १६३७ में सीरिया के ब्लूदन नामक स्थान पर जो 'पान-अरब' सम्मेलन हुआ था, उसने पैलेस्टाइन के विषय में निम्न लिखित आशय का प्रस्ताव स्वीकार किया था "जब तक ब्रिटिश अधिकारी यहूदी जाति की मांगों का समर्थन करते हैं, तब तक शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। यह सम्मेलन पैलेस्टाइन के बँटवारे को किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं कर सकता। यहूदियों को यहां केवल अल्प-संख्यक मानकर रहने दिया जा सकता है। यहां की समस्या तभी हल हो सकती है जब कि बेलफोर घोषणा वापस ले ली जावे, शासनादेश हटा लिया जावे, इराक़ की भांति ही पैलेस्टाइन को स्वतंत्र कर दिया जावे, और उससे संधि कर ली जावे। यहूदियों का पैलेस्टाइन-प्रवेश तुरन्त रोक दिया जावे, और उनके हाथ भूमि बेचने की मनाई कर दी जावे।" विभाजन की योजना तैयार करने के लिए पूर्वोक्त कमीशन बैठ गया।

अरबों ने संगठित होकर पैलेस्टाइन में सशस्त्र क्रान्ति करदी। अधिकांश पैलेस्टाइन पर विद्रोहियों का अधिकार हो गया, थोड़े समय के लिए ब्रिटिश शासन समाप्त हो गया। अक्तूबर १६३८ के आरम्भ में कैरो में एक अखिल-अरब सम्मेलन हुआ, जिसमें संसार के प्रत्येक देश से मुस्लिम प्रतिनिधि पैलेस्टाइन की समस्या पर विचार करने के लिए एकत्रित हुए थे। सम्मेलन ने निश्चय किया कि बैलफोर की घोषणा को वापस लिया जावे, और पैलेस्टाइन को स्वतंत्र राज्य बना दिया जावे। पैलेस्टाइन के बँटवारे का

सम्मेलन ने विरोध किया। इधर, जो कमीशन पैलेस्टाइन के बँटवारे की योजना के सम्बन्ध में विचार करने बैठा था, उसने यह मत दिया है कि बँटवारा अन्यायपूर्ण और अव्यवहारिक है। अतएव अब ब्रिटिश सरकार पैलेस्टाइन को अपने रक्षित राज्य के रूप में रखना चाहती है, और भविष्य में यहूदियों तथा अरबों को पैलेस्टाइन में आकर न बसने देने का विचार है। विद्रोह को सैन्य संचालन करके दमन किया गया है, और ब्रिटिश सरकार का वहां फिर प्रभुत्व स्थापित हो गया है।

पैलेस्टाइन की समस्या तब तक हल नहीं हो सकती, जब तक उसकी दोनों जातियां आपस में समझौता न करलें।

ट्रांस-जार्डन

महायुद्ध के बाद ब्रिटिश सरकार ने ट्रांस-जार्डन को एक पृथक् राज्य बना दिया है। यहां की राजनैतिक स्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भू-मध्य सागर से मैसोपोटेमिया होता हुआ जो स्थल तथा वायु मार्ग भारतवर्ष को जाता है वह यहां होकर जाता है। अमान, जो हवाई जहाजों के ठहरने का अत्यन्त सुविधा-जनक अड्डा है, वह यहां ही है। १६२५ के मई मास में ट्रांस-जार्डन को हैजाज रेलवे पर स्थित प्रदेश तथा लाल समुद्र का बंदरगाह अकाबा भी प्राप्त हो गया, इससे यहां का महत्व और भी बढ़ गया। १६२८ में ट्रांस-जार्डन और ब्रिटिश सरकार में एक संधि

हो गई, जिसके द्वारा ट्रांस-जार्डन को एक शासन-विधान तथा पार्लियामेंट दे दी गई। अंग्रेज़ों ने हैजाज़ के शरीफ़ हुसेन के बड़े लड़के अब्दुल्ला को यहां का अमीर बनाया, क्योंकि हुसेन अंग्रेजों का कृपा-पात्र बन गया था। इस प्रकार ब्रिटिश सरकार ने ट्रांस-जार्डन को एक प्रकार से अपने संरक्षण में सदा के लिए रख लिया। पैलेस्टाइन का यदि बँटवारा हो गया तो अब्दुल्ला पैलेस्टाइन के अरब-प्रदेश का भी शासक बन जावेगा। राष्ट्रवादी अरब अब्दुल्ला से बहुत नाराज़ हैं, क्योंकि वह एक प्रकार से अंग्रेजों के हाथ में है। इसी कारण कई बार अमीर अब्दुल्ला के प्राणों को भी लेने का प्रयत्न किया गया।

मैसोपोटैमिया (इराक़)

१६२० तक मैसोपोटैमिया पैलेस्टाइन की ही भांति ब्रिटिश सेनाओं के अधिकार में रहा। निर्धन जनता सैनिक शासन के आर्थिक भार से दबी जारही थी, और शिक्षित वर्ग इराक़ की स्वतंत्रता का स्वप्न देख रहा था। मैसोपोटैमिया के शिक्षित अरबों ने दमिश्क में अहद-अल-ईराक़ी नामक संस्था स्थापित की, जिसने १६२० के मार्च महीने में मैसोपोटैमियन कांग्रेस का अधिवेशन बुलाया। कांग्रेस ने मैसोपोटैमिया को एक स्वतंत्र राज्य घोषित कर दिया और फैसल के बड़े भाई अबदुल्ला को बादशाह बनाना स्वीकार किया (यही अबदुल्ला बाद को ट्रांस-जार्डन का बादशाह हुआ)। ३ मई को यह ज्ञात हुआ कि

ब्रिटिश सरकार सानरैमो की संधि के अनुसार इराक़ पर शासनादेश स्वीकार करेगी, इसका इराक़ के नेताओं ने कड़ा विरोध किया। वे अंग्रेज़ों के शासनादेश में रहना किसी भी प्रकार स्वीकार करना नहीं चाहते थे। फल यह हुआ कि इराक़ में विद्रोह हो गया और यह छः महीने तक चलता रहा। अंग्रेजी सेनाओं ने उसका दमन करने में बड़ी कठोरता से काम लिया। यह बात ध्यान में रखने की है कि इससे पूर्व इराक़ में शिया और सुन्नियों में घोर धार्मिक शत्रुता थी, किन्तु विद्रोह में वे एक हो गये।

अस्तु, विद्रोह शान्त हुआ, और सर परसी काक्स हाई-कमिश्नर होकर आये। उन्होंने इराक़ का शासन चलाने के लिए बग़दाद के वयोवृद्ध नक़ीब के नेतृत्व में, एक अरब मंत्री-मंडल बनाया। नक़ीब का सारे देश में आदर-सम्मान था। बग़दाद और बसरा के नक़ीबों का देश में बहुत प्रभाव और सम्मान इस लिए है कि वे मुहम्मद साहब के वंशजों में से समझे जाते हैं। तुर्कों के शासन-काल में उनका प्रभाव गवर्नरों से अधिक था। उपर्युक्त मंत्री-मंडल में देश के प्रतिष्ठित कहे जाने वाले वंशों के नेताओं को ही लिया गया, वैदेशिक तथा सेना विभाग बिलकुल हाई कमिश्नर के अधिकार में रक्खा गया और उसे अन्य सब विभागों संबंधी प्रस्तावों को रद्द करने का अधिकार दे दिया गया। यही नहीं, प्रत्येक मंत्री और प्रान्त के गवर्नर के साथ एक

अंग्रेज सलाहकार रख दिया गया, जिसकी सलाह लिए बिना अरब-मंत्री तथा गवर्नर कुछ कर ही नहीं सकते थे।

किन्तु इस प्रकार के शासन-प्रबन्ध से देश-भक्त अरब संतुष्ट नहीं हुए; वे तो इराक़ का एक स्वतन्त्र राज्य देखना चाहते थे। इराक़ के सिंहासन के लिए तालिब पाशा एक अत्यन्त प्रभावशाली दावेदार देश में ही उपस्थित था। वैसे तो तालिब पाशा अंग्रेज़ों का मित्र था, १६२० में उसने अंग्रेज़ों की सहायता भी की थी, और उसने स्वयं अंग्रेज़ी का अध्ययन करके पश्चिमीय सभ्यता तथा राजनैतिक संस्थाओं की जानकारी भी प्राप्त करली थी, किन्तु अंग्रेज फ़ैसल को इराक का बादशाह बनाना चाहते थे। तालिब इसका विरोध करता था। सन् १६२१ के ईस्टर में चर्चिल ने कैरो में राजनीतिज्ञों का एक सम्मेलन पूर्वीय देशों के भविष्य का निर्णय करने के लिए बुलाया। चर्चिल पश्चिमी एशिया में एक विशाल ब्रिटिश साम्राज्य के निर्माण करने का स्वप्न देख रहा था। अतएव उसने चतुर-शिरोमणि टी. ई. लोरेंस तथा कुमारी गर्टरुड-लौथियन-बैल की सलाह के अनुसार, उस सम्मेलन में यह निश्चय किया कि मिस्र पर संरक्षण रक्खा जावे, अबदुल्ला को ट्रांस-जार्डन और फैसल को बग़दाद भेज कर इराक़ के सिंहासन पर बैठाया जावे। चर्चिल ने हाईकमिश्नर परसी काक्स को इस आशय की आज्ञा दे दी। अब प्रश्न यह था कि तालिब को फैसल के रास्ते से कैसे हटाया जावे। श्रीमती काक्स ने तालिब पाशा को चाय पार्टी के लिए आमंत्रित

किया। जब तालिब पाशा पार्टी समाप्त करके जाना चाहता था, उसे क़ैद कर लिया गया और सीलोन भेज दिया गया। ब्रिटिश सरकार ने उसी समय घोषणा करदी कि वह मैसोपोटैमिया में प्रजातंत्री राज्य स्थापित नहीं करेगी, और हैजाज़ के शरीफ हुसेन का छोटा पुत्र फैसल ही वहां के सिंहासन के लिए सबसे अधिक उपयुक्त और योग्य है। मैसोपोटैमिया के कठपुतली मंत्री-मंडल ने भी ११ जुलाई को एक सरक्यूलर द्वारा फैसल को बादशाह स्वीकार कर लिया। फैसल को बादशाह बनाने के संबंध में जनता का मत लेने का बहाना किया गया; बहुमत प्राप्त होगया। २३ अगस्त १९२१ को फैसल इराक़ का बादशाह घोषित कर दिया गया। ठीक उसी दिन फैसल के घोर शत्रु इब्न सऊद ने भी सुलतान की पदवी धारण की।

किन्तु इतना होने पर भी इराक़ की समस्या हल नहीं हुई। बादशाह, नक़ीब तथा मंत्रि-मंडल सभी यह चाहते थे कि इराक़ पर से ब्रिटेन का शासनादेश उठा लिया जावे। शियों के पवित्र स्थानों कर्बला तथा नजफ के प्रमुख धर्माचार्यों ने ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध, भीषण आन्दोलन करना आरम्भ कर दिया। इस बार शिया और सुन्नी फिर एक हो गये। बग़दाद के पत्रों और शिक्षित व्यक्तियों ने भी शासनादेश के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठाई। सन् १९२२ में ब्रिटिश सरकार के दबाव के कारण इराकी मंत्री-मंडल ने ब्रिटिश सरकार द्वारा उपस्थित सन्धि के मसविदे को इस शर्त पर स्वीकार करलिया कि इसको जब तक एक

निर्वाचित राष्ट्र-सभा स्वीकार न करले, तब तक यह लागू न हो। हाई कमिश्नर ने बहुत चाहा कि मंत्री यह शर्त न लगावें किन्तु वे अड़े रहे। अब ब्रिटिश सरकार ने राष्ट्रीय भावनाओं को दबाना आरम्भ किया। राष्ट्र-सभा की तथा पत्रों की स्वाधीनता छीनली गई, जिन अरब उच्च अधिकारियों ने राष्ट्रीय भावना व्यक्त की, उन्हें निकाल दिया गया और उनके स्थान पर अंग्रेज़ सलाहकार काम करने लगे। देश में हिरब-अल-वतनी तथा हिरब-अल-नहधा नामके जो दो राष्ट्रीय दल थे उन पर कड़ी नज़र रखी जाने लगी, और अंग्रेज़ों का समर्थन करने वाले नरम दल को प्रोत्साहन दिया गया। नकीब के मंत्री मंडल ने त्याग-पत्र दे दिया और दोनों राष्ट्रीय दलों ने २१ अगस्त को एक सम्मिलित घोषणा निकाल कर इराक़ के शासन में अंग्रेज़ों के हस्तक्षेप का घोर विरोध किया। २३ अगस्त को फैसल के राज्य-रोहण का वार्षिक समारोह मनाया गया, उस समय शाही महलों तक में हाई-कमिश्नर तथा शासनादेश के विरुद्ध प्रदर्शन किया गया। इस पर ब्रिटिश सरकार ने ईराक़ की उस नाम-मात्र की स्वतंत्रता के अभिनय को भी समाप्त कर दिया। हाई-कमिश्नर ने सारे शासन-अधिकार स्वयं ले लिए। समाचार-पत्रों का प्रकाशन बन्द कर दिया गया, दोनों राष्ट्रीय दल तोड़ दिये गये और उनके नेता निर्वासित कर दिये गये। ऐसी स्थिति में १० अक्तूबर १९२२ को ऐंग्लो-इराक़-संधि पर हस्ताक्षर करवाये गये। उसी समय ब्रिटिश सरकार ने यह भी घोषणा करदी कि वह इराक़

को राष्ट्र-संघ का सदस्य बनवाने का शीघ्र ही प्रयत्न करेगी, और तब शासनादेश स्वयं समाप्त हो जावेगा।

संक्षेप में इस संधि का आशय यह था कि ब्रिटेन इराक़ के बादशाह की इच्छानुसार इस नवीन राज्य को सलाह तथा सहायता देगा। मैसोपोटैमिया में अंग्रेजों के अतिरिक्त अन्य विदेशी, राज्य द्वारा नियुक्त नहीं किये जावेंगे। इराक़ का बादशाह राष्ट्रीय विधान-सभा के सामने एक विधान उपस्थित करेगा, किन्तु उसमें सन्धि की किसी धारा का विरोध नहीं होगा। यह संधि बीस वर्ष तक रहेगी और उस समय तक ईराक़ की आर्थिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय नीति ब्रिटिश सरकार के अधीन होगी। ईराक़ का जो नवीन शासन-विधान तैयार होगा; उसमें इराक़ के नागरिकों के धर्म, जाति तथा भाषा का कोई विचार न करते हुए, सबके एक-समान अधिकार होंगे। इस संधि से देश में क्षोभ का ज्वालामुखी फूट पड़ा। कुर्दिश प्रान्त में शेख महमूद के नेतृत्व में क्रान्ति हो गई, और कुछ समय के लिए सुलेमानिया में राष्ट्रीय कुर्दिश सरकार स्थापित हो गई।

राष्ट्रीय विधान-सभा के चुनाव का पूर्ण बहिष्कार किया गया। एसैम्बली द्वारा उस संधि को मानने का प्रश्न ही नहीं रहा। विवश होकर ब्रिटिश सरकार ने कुछ और रियायतें दीं। अप्रैल १९२३ में इराक़ी मंत्री-मंडल और हाई कमिश्नर काक्स में एक दूसरी सन्धि हुई, उसके अनुसार शासनादेश का समय बीस वर्ष से घटा कर चार वर्ष कर दिया गया। यह निश्चय

हुआ कि शासनादेश हटते ही ब्रिटिश आफ़िसर, हाई कमिश्नर के प्रति उत्तरदायी न होकर, इराक़ सरकार के प्रति उत्तरदायी होंगे। नवीन सन्धि पर हस्ताक्षर हो जाने के उपरान्त काक्स के स्थान पर सर हैनरी डाब्स हाई-कमिश्नर होकर आये। किन्तु देश इस नवीन संधि को भी स्वीकार करने को तैयार नहीं था। हाई कमिश्नर ने यह प्रयत्न किया कि नवीन चुनाव हो जावे और राष्ट्रीय विधान-सभा इस संधि को स्वीकार करले, किन्तु शिया धार्मिक आचार्यों ने फ़तवा निकाल कर जनता को चुनाव में भाग न लेने का आदेश किया। उसी समय टर्की, मोसल प्रान्त पर आक्रमण करने का विचार कर रहा था। तीन मुख्य मुजतहिदों ने एक फतवा निकाल कर मैसोपोटेमिया के नागरिकों को चेतावनी दे दी कि मैसोपोटैमिया की रक्षा के लिए कोई भी तुर्कों से न लड़े। यह ध्यान में रखने की बात है कि तुर्क सुन्नी थे और कुछ वर्ष पूर्व तक आपस में इन दोनों सम्प्रदायों में बहुत द्वेष था। तीनों मुजतहिदों को निर्वासित कर दिया गया, और बहुत-से स्वयं ही विरोध-स्वरूप में देश के बाहर चले गये।

किसी प्रकार पार्लियामेंट के चुनाव समाप्त हुए, और २७ मार्च १९२४ को उस का अधिवेशन आरम्भ हुआ। किन्तु पार्लियामेंट नवीन संधि को स्वीकार करने को तैयार नहीं थी, सारे देश में उसका विरोध हो रहा था। अन्त में ब्रिटेन के तत्कालीन प्रधान मन्त्री ने यह धमकी दी कि यदि यह संधि स्वीकार नहीं की गई तो इसे वापस ले लिया जावेगा और

बिना किसी संधि के ही, मैसोपोटैमिया का शासन चलाया जावेगा। इस धमकी से इराक़ का मंत्रि-मंडल डर गया और १० जून की सायंकाल को जितने भी सदस्य मिल सके, उन्हीं को इकट्ठा करके प्रधान मन्त्री ने संधि को स्वीकार करने का निश्चय किया। ६६ सदस्य एकत्रित हुए, उनमें से केवल ३७ ने संधि के पक्ष में अपना मत दिया। जुलाई में शासन-विधान तथा चुनाव के नियम इत्यादि पास करके पार्लियामेंट तोड़ दी गई। नवीन पार्लियामेंट का अधिवेशन १ नवम्बर १९२५ को आरम्भ हुआ।

अभी तक यह निश्चय नहीं हो सकता था कि मोसल का प्रान्त जिसमें अधिकतर कुर्द जाति के लोग रहते थे, टर्की के अधिकार में रहेगा, अथवा इराक़ के। अन्त में टर्की ने राष्ट्र-संघ का फैसला जो इराक़ के पक्ष में था, स्वीकार कर लिया, और इस प्रश्न का निपटारा हो गया। मोसल का प्रान्त राजनैतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण था। इस पर अधिकार हो जाने से पश्चिमीय एशिया में ब्रिटेन की शक्ति रूस और टर्की की अपेक्षा बहुत बढ़ गई। राष्ट्र-संघ ने मोसल इराक़ को इस शर्त पर दिया था कि इराक़ पर ब्रिटेन का शासनादेश पच्चीस वर्ष तक और रहे। किन्तु १९२७ में इराक़ और ब्रिटेन में एक संधि हुई, उसके अनुसार सन् १९३२ में इराक़ का शासनादेश समाप्त हो गया, और इराक़ राष्ट्र-संघ का सदस्य बन गया। एक दूसरी संधि के अनुसार इराक़

स्वतंत्र राज्य मान लिया गया, किन्तु इराक़ की अर्थ-नीति तथा सेना का कुछ अधिकार ब्रिटेन के हाथ में रहा। वस्तुत: इराक़ की यह स्वतंत्रता अधूरी तथा नाम-मात्र की है, वह ब्रिटेन का एक रक्षित राज्य ही समझा जाना चाहिए। सितम्बर १९३३ में फैसल की मृत्यु हो गई और उसका पुत्र गाज़ी सिंहासन पर बैठा।

ब्रिटेन ने इराक़ को उस समय तक स्वतंत्रता नहीं दी, जबतक कि उसे वहां जो कुछ प्राप्त करना था, उसने वह प्राप्त नहीं कर लिया। इराक़ तेल के एक विशाल समुद्र के ऊपर तैरता है। तेल को खानों से निकालने का सर्वाधिकार ब्रिटिश व्यवसायियों के लिए सुरक्षित कर लिया गया है, तथा इराक़ के महत्वपूर्ण मार्गों पर भी ब्रिटेन का अधिकार है।

इराक़ में शिक्षा की कमी के कारण अभी प्रजातंत्र की भावनाओं का पूर्ण विकास नहीं हो पाया है। उधर रूस के प्रभाव के कारण देश में एक दल ऐसा भी बन गया है, जो देश के आर्थिक संगठन में क्रान्तिकारी परिवर्तन चाहता है। फैसल अंग्रेजों के हाथ में था, और उसके शासन-काल में पार्लियामेंट में अधिकतर प्रतिक्रियावादी वर्ग का प्राधान्य रहता था। जनता के अशिक्षित होने के कारण चुनाव में सुधारवादी दल की विजय कठिन थी। अतएव फैसल की मृत्यु के उपरान्त हिकमत सुलेमान ने सेनापति बकर-सिद्दिकी की सहायता से क्रान्ति करदी, और स्वयं प्रधान-मंत्री बन गया। हिकमत सुलेमान के मंत्री-मंडल

में सभी सुधारवादी दलों का प्रतिनिधित्व था, किन्तु देश में कुछ शिक्षित युवकों और सेना के अतिरिक्त, कोई उनका समर्थक न था। प्रतिक्रियावादी वर्ग, जिनके स्थिर स्वार्थों को नवीन सरकार की भूमि सम्बन्धी तथा अन्य योजनाओं से हानि पहुंचने की सम्भावना थी, मंत्री-मंडल के विरुद्ध षडयंत्र रचते रहे। शेखों ने फिरक़ों में विद्रोहाग्नि भड़का दी। जगह-जगह विद्रोह हुए, इन्हें दबाने में बहुत समय लगा, और बहुत रुधिर बहा।

इन विद्रोहों के कारण सेना को लगातार युद्ध करना पड़ रहा था; उसमें असंतोष बढ़ने लगा। बकर-सिद्दिकी इराक़ में सैनिक अधिनायकत्व स्थापित करने की बात सोच रहा था। उसने देखा कि देश में विरोध की जो अग्नि भड़क रही है, वह केवल इसलिए कि मंत्री-मंडल के कम्यूनिस्ट सदस्य बहुत जल्दी क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना चाहते हैं। सेनापति ने अपने भाषणों में कम्यूनिस्ट सदस्यों के विरुद्ध विष उगलना आरम्भ किया। उधर मंत्री-मंडल का बाम भाग शीघ्रता-पूर्वक सुधारों को बढ़ाने के लिए ज़ोर दे रहा था। परिस्थिति ऐसी होगई थी कि गंगा-जमुनी मंत्री-मंडल अधिक समय नहीं चल सकता था। प्रधान-मंत्री ने सेनापति बकर-सिद्दिकी का साथ दिया। मंत्री-मंडल के चार सदस्यों ने त्याग-पत्र दे दिया। अब एक प्रकार से सारी शक्ति बकर-सिद्दिकी के हाथ में आ गई थी। समाचार-पत्रों पर रोक लगा दी गई। पुराने मंत्री-मंडल के कम्यूनिस्ट सदस्यों पर

पुलिस की देख-रेख रहने लगी, उनमें से तीन विवश होकर देश के बाहर चले गये । अन्त में क्रान्तिकारी विचार रखने वाले थोड़े से सदस्यों से छुटकारा पानेके लिए पार्लियामेंट ही तोड़ दी गई। ऐसा प्रतीत होने लगा कि बकर-सिद्दिकी शीघ्र ही सैनिक अधिनायक होने वाला है । किन्तु उसे एक मोसल के सैनिक कर्मचारी ने गोली से मार दिया। प्रधान मंत्री ने मोसल सैनिक डिवीज़न के अधिकारी से अट्ठारह आदमियों को सैनिक न्याय (मिलिटरी-ट्रायल) के लिए मांगा। इस पर उक्त डिवीज़न ने विद्रोह कर दिया, और मोसल की स्वतंत्रता घोषित कर दी। विवश होकर हिकमत ने मंत्री-पद त्याग दिया । जमील-अल-मफ़दी प्रधान मंत्री बना। वह पहले भी इस पद पर रह चुका था। हिकमत के समय में सुधारों का श्रीगणेश हुआ था, परन्तु नवीन प्रधान मंत्री प्रतिक्रियावादी था, अतः उसके समय में आगे प्रगति न हुई।

इससे यह ज्ञात होता है कि इराक़ में अभी प्रजातंत्र की भावना का पूर्ण उदय नहीं हुआ। कुछ समयके उपरान्त ही, वहां यह बात हो सकेगी। परन्तु इराक़ ने दो संधियां करके अपनी अंतर्राष्ट्रीय स्थिति को दृढ़ कर लिया है; प्रथम टर्की, फारस तथा अफगानिस्तान से, दूसरी इब्न-सऊद तथा यमन से। इराक़ भी पान-अरब आन्दोलन का पूर्ण समर्थक है।

मध्य अरब

१६२४ में ऐसा प्रतीत होरहा था कि हैजाज़ के शासक हुसेन का स्वप्न और महत्त्वाकांक्षा पूर्ण होने वाली है । उसका एक पुत्र मैसोपोटैमिया और दूसरा ट्रांस-जार्डन का शासक बन गया था, और स्वयं वह हैजाज़ का बादशाह था । हुसेन ने अंग्रेज़ों से इस सम्बन्ध में बातचीत करना आरम्भ किया कि सारे अरब प्रदेशों का एक संघ बना दिया जावे । १६२४ की बसन्त ऋतु में वह अपने पुत्र के पास ट्रांस-जार्डन गया, वहां उसको यह ज्ञात हुआ कि टर्की राष्ट्र-सभा ने खलीफा अब्दुल मजीद को सिंहासन से उतार दिया है। हुसेन का स्वयं खलीफा बनने का स्वप्न पूरा होने वाला था; १४ मार्च १६२४ को उसने खलीफा की उपाधि धारण करली। इराक़, ट्रांस-जार्डिनिया तथा सीरिया ने उसको खलीफ़ा स्वीकार कर लिया, किन्तु मिस्र के प्रमुख उलमाओं ने खिलाफत के प्रश्न का निर्णय करने के लिए मार्च १६२५ में क़ैरो नगर में एक मुस्लिम सम्मेलन करने की घोषणा की। पदच्युत खलीफा अब्दुल मजीद ने भी इसका समर्थन किया।

किन्तु इसी समय हुसेन के घोर शत्रु इब्न-सऊद का उदय होरहा था । सन् १६१६ में ही हुसेन और इब्न-सऊद में कुछ गांवों के ऊपर युद्ध छिड़ गया था, जिसमें हुसेन की भारी पराजय हुई थी। इब्न सऊद उसी समय हैजाज़ को छीन लेता, यदि अंग्रेज़

उसको रोक न देते। परन्तु अगस्त १६२१ में इब्न-सऊद ने अपने एक उद्देश्य को पूरा किया अर्थात् अपने पैतिक शत्रु इब्न-रशीद के बंश को नष्ट कर दिया, उसकी राजधानी हेल पर अधिकार कर लिया, और जबल शम्मार के राज्य को अपने राज्य में मिला लिया। अब इब्न-सऊद मध्य अरब का सर्वे-सर्वा बन गया था; उसके राज्य की सीमाएं सीरिया, ट्रांस-जार्डन तथा इराक़ के राज्यों तक पहुंच गईं।

इधर से निश्चिन्त होकर इब्न सऊद ने हैजाज़ की ओर ध्यान दिया। वह अत्यन्त चतुर राजनीतिज्ञ है, उसने क्रमशः अपनी शक्ति को बढ़ाया। जबल शम्मार के राज्य को अपने राज्य में मिलाकर उसने वहां की प्रजा के साथ बहुत अच्छा व्यवहार किया। इब्न रशीद के वंशजों को उसने अपनी राजधानी रियाध में रक्खा और हेल के प्रमुश वंशों से अपने वंश का विवाह-सम्बन्ध स्थापित करके, उनकी सहानुभूति प्राप्त करली।

सितम्बर १६२४ को वहाबी सेनाएं हैजाज़ की ओर चल दीं। ५ अक्टूबर १६२४ को हुसेन ने सिंहासन त्याग दिया और उसका पुत्र अली हैजाज़ राज्य-सिंहासन पर बैठा। १३ अक्टूबर को वहाबी मक्का में घुसे। १६२५ के अन्त में मक्का और मदीना पर इब्न सऊद का अधिकार हो गया, और १६२६ में वह हैजाज़ का बादशाह घोषित कर दिया गया। लगभग एक सौ

बीस वर्ष के उपरान्त (जब कि उसके पूर्वज अब्दुल असीस द्वितीय इब्न सऊद ने मक्का पर अधिकार किया था) अब्दुल असीर तृतीय इब्न सऊद ने फिर इन पवित्र स्थानों पर अधिकार कर लिया। चतुर इब्न सऊद ने प्रजा पर कोई अत्याचार नहीं किया, और प्रतिष्ठित वंशों से विवाह-संबंध स्थापित करके सब की सहानुभूति प्राप्त की।

सन् १६२७ में इब्न सऊद ने नज्द के बादशाह की पदवी धारण की, और विदेशों से संबंध स्थापित करने के लिए अपने पुत्र को मिश्र तथा योरोप भेजा। जून १६२६ में उसने मक्का में 'पान-इस्लाम' सम्मेलन की योजना की। प्रत्यक्ष रूप से तो इस सम्मेलन का उद्देश्य यह बतलाया गया कि पवित्र स्थानों की यात्रा के संबंध में हैजाज़ के शासक का दायित्व और अधिकार निश्चित किया जावे, परन्तु वस्तुतः इब्न सऊद इस बात की जांच करना चाहता था कि उसके, खलीफा चुने जाने की कहां तक सम्भावना है। इससे एक मास पूर्व कैरो में खिलाफत के प्रश्न का निपटारा करने के लिए जो सम्मेलन हुआ था वह असफल रहा, और अब यह सम्मेलन भी इस प्रश्न को हल न कर सका।

इधर से निराश होकर इब्न सऊद ने अपने राज्य के आन्तरिक संगठन की ओर ध्यान दिया और क्रमशः वह अपनी सैन्य शक्ति बढ़ाने लगा। उसने भी देखा कि अंग्रेज़ों से संधि

करके अपनी शक्ति को और भी बढ़ाने का अवसर मिल सकेगा, अतएव उसने नवम्बर १९२५ में ब्रिटेन से संधि करली। किन्तु उसने इस समय तक सम्पूर्ण अरब को एक करने का विचार नहीं छोड़ा था।

१९२८ के आरम्भ में इब्न सऊद इराक़ पर चढ़ाई करने की तैयारियां करने लगा, बहुत से वहाबी उसकी सहायता के लिए उसके पास पहुँचने लगे। योरोप से उसने बहुत सी युद्ध सामग्री मंगाना आरम्भ किया। आक्रमण के उसने बहुत से बहाने भी ढूँढ़ निकाले। उसने फ़ैसल पर यह दोष लगाया कि वह हैजाज़ के बदायून जातियों में, उसके विरुद्ध असन्तोष फैलाता है। कुछ वर्षों से मस्कत और ओमन के सुल्तान भी ब्रिटेन के प्रभाव-क्षेत्र में आ गये थे, इब्न सऊद इस समय ओमन पर भी अपना अधिकार बतलाने लगा।

इब्न सऊद की इस नीति से अंग्रेज़ों की आंखें खुलीं, उन्होंने ट्रांस-जार्डन में सैनिक तैयारियां करलीं। इस समय फ्रांस भी जो गुप्त रूप से इब्न सऊद को सहायता देता रहता था, उस की ओर से उदासीन हो गया, क्योंकि मध्यसागर का प्रश्न फ्रांस के तथा ब्रिटेन के बीच तय हो गया था। इराक़ वहाबियों के आक्रमण की आशंका से बहुत भयभीत हो उठा, इस समय अंग्रेज़ों ने इराक़ सरकार से अपने लिए कुछ सुविधाएं प्राप्त कर लेने का अच्छा अवसर देखा। अतएव

उन्होंने उसको सहायता देने के सम्बन्ध में असंतोषजनक उत्तर दिया; और, बग़दाद से हैफ़ा तक रेल निकालने, कपास उत्पन्न करने, और बग़दाद में बिजली पहुंचाने की तथा अन्य व्यवसायिक सुविधाएं प्राप्त करलीं।

वास्तव में अंग्रेज़ भी इब्न सऊद को आगे बढ़ने देना नहीं चाहते थे, उन्होंने सर गिल्बर्ट क्लेटन को अपना प्रतिनिधि बनाकर उसके पास भेजा। अंग्रेज़ों ने इब्न सऊद को धमकी भी दी और आर्थिक लालच भी दिया। इब्न सऊद ने समझ लिया कि आगे बढ़ने का यह उपयुक्त अवसर नहीं है, अतएव उसने अपनी नीति बदल दी।

इस समय इब्न-सऊद अरब में सबसे शक्तिवान व्यक्ति है, और उसका यह प्रयत्न कि वह सारे अरब को एक सूत्र बांध दे, यद्यपि इस समय सफ़ल नहीं होसका, (क्योंकि वहाबियों और उत्तरी अरब के निवासियों की सभ्यता और संस्कृति में महान अन्तर है) 'पान-अरब' आन्दोलन दूसरे रूप में वहां चल रहा है।

'पान-अरब' आन्दोलन

समस्त अरब की एकता का विचार नया नहीं है। जब अरब नेताओं ने टर्की की दासता का जुआ उतार फैंकने के लिए गुप्त संस्थाएं बनाईं थीं, उस समय भी यह

भाव उनमें काम कर रहा था। महायुद्ध के पूर्व भी सीरिया के नेताओं ने हैजाज़ के शरीफ को अरब विद्रोह का नेतृत्व करने के लिए आमंत्रित किया था। महायुद्ध के उपरान्त अरब को अंग्रेज़ और फ्रांसीसियों ने आपस में बांट लिया। अंग्रेज़ राजनीतिज्ञों ने भरसक यह प्रयत्न किया कि अरब में एकता न स्थापित हो। इराक़ और ट्रांस-जार्डन में अपने भक्त फैसल और अब्दुल्ला को बैठाकर, पैलेस्टाइन में यहूदियों की समस्या खड़ी करके और मध्य अरब में कभी इब्न-सऊद तथा कभी हुसेन को सहायता देकर, उन्होंने इस बात का प्रयत्न किया कि अरब में कभी भी एकता स्थापित न हो पावे। किन्तु फिर भी भाषा तथा सभ्यता होने के कारण यह आन्दोलन बल पकड़ता जा रहा है। मिस्र, सीरिया तथा इराक़ से निकलने वाले पत्र अरब भर में पढ़े जाते हैं। पैलेस्टाइन के उपद्रवों के समय वहां के अरबों को सारे अरब की सहानुभूति प्राप्त थी। प्रति वर्ष 'पान-अरब' कांग्रेस का अधिवेशन होता है। जब तक साम्राज्यवादी देश अरब में मौजूद हैं, तब तक पूर्ण एकता स्थापित होना कठिन है, परन्तु एक न एक दिन जब साम्राज्यवादी शक्तियां यहां से हटेंगी तो समस्त अरब एकता के सूत्र में बंध जावेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। उस समय अरब राज्यों का सम्भवतः एक संघ बन जावेगा।

पाचवाँ परिच्छेद

ईरान की राष्ट्रीय जागृति

ईरान को चारों ओर ऊँचे पर्वत घेरे खड़े हैं, और उसके भीतर अधिकांश प्रदेश मरुभूमि है। रिज़ाशाह पहलवी के उदय के पूर्व ईरान सभ्य संसार से उसी प्रकार पृथक् था, जिस प्रकार अरब के प्रदेश। देश में गमनागमन के साधनों, प्रजातंत्र की भावनाओं, और बुद्धिवाद का सर्वथा अभाव था।

मिस्र की भांति ईरान पर भी योरोपीय शक्तियों की दृष्टि उस समय पड़ी, जब कि नैपोलियन ने भारतवर्ष विजय करने

की योजना बनाई। इसी उद्देश्य से फ्रैंच सैनिक मिशन ईरान का निरीक्षण करने के लिए भेजा गया। शीघ्र ही ब्रिटेन तथा रूस ने भी यहां अपने सैनिक मिशन भेजे। यद्यपि पीछे फ्रांस मध्य एशिया से हट गया, किन्तु रूस और ब्रिटेन ईरान पर अपना प्रभुत्व जमाने का प्रयत्न करते रहे; क्योंकि रूस काकेशस तथा तुर्किस्तान के रास्ते से भारत की ओर बढ़ना चाहता था, और ब्रिटेन अफ़गानिस्तान तथा ईरान को भारतवर्ष का सीमा-प्रान्त बना देना चाहता था।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में ईरान के कुछ राजनीतिज्ञ योरोप के सम्पर्क में आये, और पश्चिमीय सभ्यता से प्रभावित हुए। उनमें तबरेज़ का सूबेदार अब्बास मिर्ज़ा मुख्य था। उसने अपने प्रान्त में कुछ अंग्रेज़ तथा फ्रैंच कर्मचारी रक्खे, और युवकों को योरोप में शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा। उसने एक प्रेस भी खोला, और फ़ारसी में नैपोलियन, पीटर, और सिकन्दर के जीवन-चरित्र, तथा चार्लस बारहवें का इतिहास प्रकाशित करवाया। तरुण शाह नसीर-उद्दीन के मंत्री मिर्ज़ा तग़ी ख़ां ने अब्बास मिर्ज़ा के कार्य को आगे बढ़ाया, और १८५० में उसने तेहरान से "ईरान" नामक प्रथम फ़ारसी पत्र निकाला।

इसी समय फारस में बाब का उदय हुआ, और उसके द्वारा चलाये हुए धर्म की ओर, शिक्षित जनता आकर्षित होने लगी। इस धर्म ने ईरान में बुद्धिवाद का प्रचार किया, और राजनैतिक

जागृति की। इस प्रगतिशील आन्दोलन से शियों के धर्माचार्य तथा शाह नासिरउद्दीन चौंके; और उन्होंने बाब के अनुयायियों का घोर दमन किया। बहुतों को फांसी दे दी गई; यहां तक कि स्वयं बाब को भी, बहुत समय तक जेल में रखने के उपरान्त १८५० में फांसी दे दी गई।

शाह नासिरउद्दीन अत्यन्त विलासी, अपव्ययी, एवम् स्वेच्छाचारी शासक था। सारे देश में गड़बड़ फैली हुई थी, सामन्तों और मुजतहिदों (धर्माचार्यों) का देश में अत्याधिक प्रभाव था, लोग स्वार्थ-वश प्रजा को खूब ही लूटते थे। राजकीय पद घूस देकर प्राप्त किये जा सकते थे। छोटे-से पद से लेकर सूबेदारी तक खरीदी जाती थी, योग्यता की कोई पूछ नहीं थी। राज्य-कर्मचारी प्रजा को अधिक से अधिक चूस कर अपने खजाने को भरने की चेष्टा करते थे।

शाह की फिज़ूलखर्ची इतनी अधिक बढ़ गई थी कि उसे योरोपीय शक्तियों से ऋण लेने की आवश्यकता पड़ गई। साम्राज्यवादी शक्तियां तो ऐसे अवसर की बाट देखा ही करती हैं, उन्होंने ईरान के शाह को उंचे सूद पर ऋण दिया। ईरान की प्राकृतिक देन विदेशी कम्पनियों को सस्ते दामों पर बेच दी गई, और उन्हें और भी बहुत सी व्यापारिक सुविधाएँ दी गईं। बात केवल यहीं तक नहीं रही; ऋण देने से ईरान में विदेशियों का प्रभाव बढ़ गया। ईरान इस समय बिलकुल अंधकार

में था; शिक्षा, सुशासन, तथा न्याय का अभाव तो था ही, अब साम्राज्यवादी देश उसकी स्वतंत्रता का दीपक बुझाने के भी मंसूबे बांध रहे थे।

यद्यपि ईरान की दशा बिगड़ती जा रही थी, किन्तु फिर भी दो व्यक्तियों ने वहां के शिक्षित समुदाय में राष्ट्रीय विचार भरने और देश में राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न करने का महत्व-पूर्ण प्रयत्न किया। उन व्यक्तियों का नाम जमालउद्दीन अफ़गानी और मलकम ख़ाँ था। जमालउद्दीन अफगानी ने पूर्व के इस्लामी राष्ट्रों को योरोपीय साम्राज्यवाद के पंजे से छुड़ाने तथा उनमें शुद्ध राष्ट्रीयता की भावना भरने का जो काम किया, वह अत्यन्त प्रशंसनीय था। १८७६ में अंग्रेज़ों के दबाव के कारण उसे क़ैरो (मिस्र) का अल-अज़हर विश्व-विद्यालय छोड़ना पड़ा, जहां रहकर उसने मिस्र के विद्यार्थियों में राष्ट्रीयता की भावना जागृत की थी। मिस्र से वह भारतवर्ष आया। १८८२ में उसे यह देश भी छोड़ने पर विवश होना पड़ा। इसके उपरान्त वह लन्दन, पेरिस और सेंट-पीटर्सबर्ग में रहा। पेरिस से उसने अरबी का एक साप्ताहिक पत्र भी निकाला। १८८६ में शाह नासिरउद्दीन ने उसे ईरान में बुलाया, वह यहां केवल दो वर्ष ही रह पाया था, किन्तु उस थोड़े समय में भी उसके बहुत से राजनैतिक शिष्य हो गये। भला जमालउद्दीन अफ़गानी और स्वेच्छाचारी शाह नासिरउद्दीन में कैसे पट सकती थी? थोड़े ही दिन बाद इनमें मतभेद हो गया, और जमालउद्दीन को ईरान

छोड़कर लन्दन भाग जाना पड़ा। यहां उसकी भेंट मलकम ख़ाँ से हुई।

मलकम ख़ाँ तेहरान में अध्यापक रहा था। बाद को शाह ने उसे अपना राजदूत बनाकर लन्दन भेज दिया। जब वह लन्दन में था, उसने शाह को शासन तथा न्याय में सुधार करने की सलाह दी। किन्तु स्वेच्छाचारी शाह ने उस पर कोई ध्यान नहीं दिया। इस पर मलकम ख़ाँ ने अपना पद त्याग दिया, और १८६० में लन्दन से ही 'क़ानून' नामक फारसी का पत्र निकाला। इस के सम्पादकीय कालमों में वह ईरान राज्य तथा वहां के धर्माचार्यों की बहुत कड़ी समालोचना किया करता था। 'क़ानून' की प्रतियां बहुत बड़ी संख्या में, ईरान में छिपे-छिपे आती थीं; क्रमशः देश में उसका प्रभाव बढ़ता गया।

ईरान में एक व्यक्ति और था, जिसने देश में नव-जागरण लाने का प्रयत्न किया, और आश्चर्य तो यह है कि वह एक धर्माचार्य (मुजतहिद) था। साधारणतः ईरान में मुजतहिद अत्यन्त पतित थे, किन्तु हाजी शेख हादी नज्म आबादी इसका अपवाद था। वह तेहरान का एक प्रमुख उलमा था; और इस लिए देश भर में उसका अत्याधिक सम्मान था। विशेष बात यह थी कि वह किसी मूल्य पर ख़रीदा नहीं जा सकता था। उन्नीसवीं शताब्दी के ईरान में यह एक अनहोनी बात थी। हाजी की आवश्यकताएँ बहुत कम थीं, और वह अपने शिष्यों से कभी

भेंट इत्यादि स्वीकार नहीं करता था। प्रति दिन दोपहर के बाद वह अपने मकान के सामने भूमि पर चटाई डालकर बैठता, और प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियों से बात-चीत करता। उसकी चटाई पर राजा, व्यापारी, विद्वान, राजनीतिज्ञ, शिया और सुन्नी, यहूदी और बाबी, निर्धन और धनी सब आकर बैठते, और उससे उपदेश लेते, उसका द्वार सब धर्मों को मानने वाले, और प्रत्येक जाति और वर्ग के लिए खुला हुआ था, वह कभी किसी के साथ अपने व्यवहार में भेद नहीं करता था। ईरान में हाजी ने बुद्धि-वाद और उदार विचारों का खूब ही प्रचार किया, और उसके शिष्यों में से बहुतों ने भावी राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लिया।

ईरान में युवक ईरानियों की नवीन पीढ़ी उत्पन्न होगई थी, जो ईरान को मध्य युग से निकाल कर आधुनिक युग में लाना चाहती थी। जमालउद्दीन-अफगानी तरुण इरानियों की शक्ति का केन्द्र था। जब वह फारस से चला गया और कांस्टैंटिनोपल में रहने लगा, उस समय भी वह ईरान के तरुणों का सर्व-मान्य नेता था। १८६६ में मिर्जारज़ा नामक एक क्रान्तिकारी ने शाह नासिरउद्दीन की हत्या करदी। बाद को उसने यह स्वीकार किया कि उसने यह कार्य जमालउद्दीन के कहने से किया था। मिर्जारज़ा जमालउद्दीन अफगानी के साथ कुछ समय तक कांस्टैंटिनोपल में रहा था। ईरान सरकार ने टर्की सरकार से जमाल-उद्दीन को मांगा किन्तु उस समय दोनों राज्यों में मनो-मालिन्य होने के कारण टर्की ने उसे देना अस्वीकार कर दिया।

नवीन शाह मुजफ्फर उद्दीन अपने पूर्वाधिकारी से निर्बल, किन्तु अच्छे स्वभाव का था। उसके शासन-काल में देश की दशा और भी बिगड़ती गई, और विदेशियों का प्रभाव बढ़ता गया। देश को विदेशी कम्पनियों के हाथ बेच देने का जो ढंग शाह नसीरउद्दीन ने चलाया था वह पूर्ववत ही चलता रहा; यहां तक कि ईरान की प्राकृतिक देन क्रमशः विदेशियों के अधिकार में जाने लगी। १८६० शाह ने तम्बाकू की उत्पत्ति, विक्रय, तथा निर्यात का एकाधिकार एक अंग्रेज़ी कम्पनी को दे दिया। किन्तु ईरानी अब इन बातों की ओर से उदासीन नहीं थे। व्यापारियों और धर्माचार्यों ने मिलकर इसका विरोध किया। तबरेज़ तथा अन्य नगरों में इसी प्रश्न को लेकर उत्तेजना फैल गई। यद्यपि तम्बाकू पीना छोड़ देना, ईरानियों के लिए बहुत कठिन था, दिसम्बर १८६१ में एक प्रमुख मुजतहिद की आज्ञानुसार इस पदार्थ का बहिष्कार किया गया। विवश होकर शाह को इस का एकाधिकार तोड़ना, तथा ५०,००० पौंड हर्जाना अंग्रेज़ी कम्पनी को देना पड़ा।

रूस को नवीन शाह से आर्थिक सुविधाएं प्राप्त करने में बहुत सफलता मिली। क्रमशः उसने ईरान पर प्रभुत्व जमाना आरम्भ कर दिया। उसने वहां रेलवे लाइनें बनाने का एकाधिकार प्राप्त कर लिया और ईरान सरकार से यह समझौता कर लिया कि वह जो भी ऋण लेगी, रूसी-ईरानी बैंक के द्वारा लेगी। बैलजियन अधिकारी जो फ़ारस में आर्थिक तथा

कर सम्बन्धी नीति का संचालन करते थे, रूस के प्रभाव में आ गये। क्रमशः रूसने फ़ारसके सभी प्रतिक्रियावादी वर्गोंको सहायता पहुंचाना आरम्भ किया। रूस की नीति यह थी कि फ़ारस की सरकार जितनी ही पतित होती जावेगी, रूस के लिए इस देश पर अधिकार कर लेना उतना ही सरल होगा। प्रतिक्रियावादी राजनीतिज्ञ रूस की ओर खिंचने लगे। किन्तु ब्रिटेन फ़ारस को अपने प्रभाव-क्षेत्र में लाना चाहता था। लार्ड कर्जन ने, जब वह भारतवर्ष में वायसराय था, इसका बहुत प्रयत्न किया, किन्तु वहां रूस का प्रभाव बढ़ता ही गया। सन् १९०५ में रूस में प्रथम विद्रोह हुआ, ज़ार के अत्याचारों के विरुद्ध प्रजा में विद्रोह की अग्नि भड़क उठी। देश-हितैषी ईरानियों पर इस क्रान्ति का बहुत प्रभाव पड़ा, उन्होंने भी अपने देश में प्रजा-हित को प्रधानता देने वाली सरकार स्थापित करने का निश्चय किया, और वहां भी क्रान्ति हो गई।

शाह तथा उसके दरबारियों के कुशासन के प्रति विरोध प्रदर्शित करने तथा शासन-सुधार की मांग करने के अभिप्राय से तेहरान के प्रमुख व्यापारी तथा धार्मिक गुरुओं ने दिसम्बर १९०५ को तेहरान छोड़ दिया और कुम नामक स्थान को, जो राजधानी के दक्षिण में था, चले गये। विरोधियों ने शाह के सामने आईनउद्दौला को प्रधान-मंत्री-पद से हटा देने की मांग उपस्थित की। शाह ने इसे स्वीकार कर लिया, तब व्यापारी तथा धर्माचार्य तेहरान लौट आये। किन्तु शाह ने अपना बचन

पूरा नहीं किया। फल-स्वरूप कई स्थानों पर, उत्तेजना के कारण दंगे हो गये, और बहुत-से मनुष्य मारे गये।

अभी तक क्रान्ति की भावना, तथा शाह की सरकार के विरुद्ध असन्तोष शान्त नहीं हुआ था। अतएव जुलाई १९०६ में धार्मिक पंडित तथा उनके शिष्य फिर बस्त * करने के लिए कुम में चले गये। धार्मिक नेताओं के विरोध आरम्भ करते ही तेहरान के व्यापारियों ने बाज़ार बन्द कर दिये। प्रधान मंत्री ने सेना के द्वारा बल-प्रयोग करके बाज़ार खुलवाना चाहा, किन्तु वह सफल नहीं हुआ। १२,००० ईरानी व्यापारी बस्त करने के लिए ब्रिटिश दूतावास में चले गये। व्यापारियों ने शासन-विधान तैयार करने, धार्मिक नेताओं को कुम से वापस बुलाने, तथा प्रधान मन्त्री आइनउद्दौला को निकाल देने की मांग की। विवश होकर ५ अगस्त को शाह ने उनकी मांगों को स्वीकार कर लिया। उस समय देश भर में नव जागृति के चिन्ह दृष्टि-गोचर होने लगे थे। लोग यह समझने लगे थे कि इस अत्याचारी सरकार के स्थान पर एक उत्तम नवीन सरकार स्थापित की जा सकती है।

१९ अगस्त १९०६ को .मजलिसे-मिल्ली अर्थात् ईरानी पार्लियामेंट स्थापित की जाने की घोषणा की गई। सदस्यों

* ईरान में यह पृथा है कि यदि कोई व्यक्ति किसी बात का सार्वजनिक विरोध करना चाहता है तो वह किसी मसजिद में चला जाता है, और तब तक नहीं लौटता, जब तक कि उसकी मांग पूरी न हो जावे।

की संख्या १५६ रखी गई। ३० से ७० वर्ष तक की आयु वाले पढ़े-लिखे लोग ही सदस्य हो सकते थे। ७ अक्टूबर १९०६ को प्रथम ईरानी पार्लियामेंट का अधिवेशन हुआ। प्रथम वार केवल राजधानी तेहरान के ही साठ सदस्य उपस्थित हुए, क्योंकि तब तक प्रान्तों में चुनाव नहीं हो सका था।

सरकार को धन की आवश्यकता थी, अतः उसने पार्लियामेंट के सामने पहला प्रस्ताव, एक नवीन ऋण लेने के सम्बन्ध में रक्खा। किन्तु पार्लियामेंट ने उसकी स्वीकृति नहीं दी। प्रतिक्रियावादी दल का बहुत-कुछ विरोध करने पर भी पार्लियामेंट ने एक शासन-विधान बनाया। ३० दिसम्बर १९०६ को शाह ने उस पर हस्ताक्षर कर दिये। इसके नौ दिन बाद शाह की मृत्यु हो गई। इस शासन-विधान के अनुसार शाह प्रजा का सर्वे-सर्वा नहीं रहा। राज्य का बजट उसकी व्यक्तिगत आय से पृथक् कर दिया गया। भाषण और लेखन की स्वतंत्रता दे दी गई, और मंत्री पार्लियामेंट के लिए उत्तरदायी हो गये।

इस परिवर्तन का फल यह हुआ कि नये समाचार-पत्र निकाले गये, और राष्ट्रीय दृष्टिकोण रखने वाले समाचार-पत्रों की संख्या बहुत बढ़ गई। ईरान की पार्लियामेंट ने एक राष्ट्रीय बैंक स्थापित करने का भी निश्चय किया, किन्तु अंग्रेजी तथा रूसी बैंकों के विरोध करने के कारण, वह स्थापित न हो सका।

१९०७ के आरम्भ में मुहम्मद अली ईरान के सिंहासन पर

बैठा। नवीन शाह पर रूस का बहुत प्रभाव था, अतः वह शासन-सुधारों का आरम्भ से ही विरोधी था। फल यह हुआ कि शाह और पार्लियामेंट में शीघ्र ही मतभेद हो गया। पार्लियामेंट स्वेच्छाचारी प्रान्तीय गवर्नरों को हटाना चाहती थी। इसका मुख्य कारण यह था कि ये गवर्नर पार्लियामेंट की प्रभुता को स्वीकार नहीं करना चाहते थे, उन्होंने अपने प्रान्तों में पार्लियामेंट के चुनाव नहीं होने दिये थे और कर उगाहने में जो अनियमितता होती थी, उसको वे बनाये रखना चाहते थे। पार्लियामेंट के बहुत-कुछ विरोध करने पर सरकार ने बैलजियन अधिकारियों को तो निकाल दिया, किन्तु वह उस पेंशन को न रोक सकी, जो शाह के दरबारियों और चाटुकारों को बिना सेवा के दी जाती थी। इन सब कारणों से शाह और पार्लियामेंट में खिंचाव हो गया।

पार्लियामेंट में तबरेज़ के प्रतिनिधि अधिक प्रगतिशील थे, क्योंकि उन पर पश्चिमीय प्रभाव अधिक था। वे तक़ी-सादा के नेतृत्व में और भी अधिक शासन-सुधार प्राप्त करना चाहते थे। उनके अतिरिक्त पार्लियामेंट में एक राष्ट्रीय दल भी था, जो अपने को ईरान की पूर्ण स्वतंत्रता का रक्षक, तथा विदेशियों के हस्तक्षेप का विरोधी घोषित करता था। किन्तु यह दल ईरान के द्वारा बिल्कुल पश्चिमीय ढंग अपनाये जाने का विरोधी था। इसके नेता सैयद अब्दुल्ला बाहबाहानी और सैयद मुहम्मद ताबाताबाई थे। शाह के दरबारियों का भी पार्लियामेंट में एक

दल था; यह नितान्त प्रतिक्रियावादी था। इधर तो पार्लियामेंट शासन-सुधार की योजना को कार्य-रूप में परिणत करना चाहती थी, उधर देश में बड़ी अशान्ति फैली हुई थी। सरकार निर्बल थी, खज़ाना खाली था, भिन्न-भिन्न राजकीय विभाग धन के बिना, पंगु बने हुए थे; यहां तक कि सेना भी सन्तुष्ट नहीं थी। ऐसी विपरीत परिस्थिति में, प्रान्तों में विद्रोह होगया; इसका कारण वास्तव में रूस तथा प्रतिक्रियावादी वर्ग थे।

३१ अगस्त १६०७ को प्रधान-मंत्री अली असकरखां का, तबरेज़ के राष्ट्रीय दल के एक साहसी युवक ने बध कर दिया। पश्चात् उस युवक ने स्वयं आत्मघात करलिया। सारा देश प्रधान मंत्री से घृणा करता था, अतएव ईरानियों ने उस युवक को देश-भक्त तथा राष्ट्रीय वीर कह कर उसका सम्मान किया। उसी दिन फारस के सम्बन्ध में ऐंग्लो-रूसी सन्धि प्रकाशित की गई। अभी तक ब्रिटेन तथा रूस की प्रतिस्पर्धा तथा वैमनस्य के कारण फारस की स्वतन्त्रता बची हुई थी। इस संधि के अनुसार, दोनों साम्राज्यवादी देशों ने मध्य एशिया पर प्रभुत्व जमाने के प्रश्न को लेकर न लड़ने का निश्चय कर लिया। फारस को तीन भागों में बांट दिया गया। उत्तर फारस के बड़े भाग पर रूस का संरक्षण स्थापित होगया। दक्षिण-पूर्व का भाग ब्रिटिश प्रभाव-क्षेत्र में आगया, और दक्षिण-पश्चिम का भाग दोनों के प्रभाव के बाहर रक्खा गया। इस सन्धि से यद्यपि भारतवर्ष की पश्चिमी सीमा सुरक्षित होगई, किन्तु रूस फारस का भाग्य-विधाता बन गया।

इस संधि के प्रकाशित होने से सारे ईरान में उत्तेजना फैल गई। सुधारवादी दल ने अधिक सुधारों के लिए आन्दोलन करना आरम्भ किया, और पार्लियामेंट तथा शाह में और भी अधिक मतभेद होगया। आन्दोलन प्रबल होता गया। विवश होकर शाह ने पार्लियामेंट में शासन-विधान को मानने तथा उसके प्रति सच्चे रहने की शपथ ली, और कुछ अधिक सुधारों को स्वीकार किया। किन्तु वह हृदय से सुधारों का विरोधी था। नवम्बर में उसने पार्लियामेंट के सामने यह मांग उपस्थित की कि सारी गुप्त राजनैतिक समितियां तोड़ दी जावें, किन्तु इसके विरुद्ध राजनैतिक समितियों ने दरबारी दल के नेताओं को देश-निकाला देने, तथा १४ दिसम्बर को प्रजा का सम्मेलन करने, की मांग उपस्थित की। सरकार ने सम्मेलन करने की आज्ञा देदी। चतुर शाह ने अचानक प्रधान मंत्री नसीर-उल मुल्क को कैद कर लिया, किन्तु ब्रिटिश राजदूत के हस्तक्षेप करने पर वह बच कर योरोप भाग गया। इधर चाटुकार दरबारियों ने बाहर मुल्लाओं के सहयोग से हजारों अपढ़ लोगों को इकट्ठा किया और उन्हें शहर को लूटने तथा पार्लियामेंट-भवन को नष्ट करदेने के लिए छोड़दिया

राष्ट्रीय नेता इससे हतोत्साह होने वाले नहीं थे, उन्होंने सिपह-सालार मस्जिद में पार्लियामेंट की बैठक की; राष्ट्रीय दल के एक हजार सशस्त्र सहायकों ने उसकी रक्षा का भार अपने ऊपर लिया। जब यह समाचार प्रान्तों में पहुंचा तो वहां से तार द्वारा सूचनाएं आईं कि वे शाह के इस कार्य की निन्दा करते हैं और

पार्लियामेंट की सहायता तथा शासन-विधान की रक्षा के लिए सेनाएं भेजते हैं। शाह को एक बार फिर राष्ट्र की सम्मिलित शक्ति के सामने नत-मस्तक होना पड़ा, उसने फिर विधान के प्रति सच्चा रहने की शपथ ली, और प्रजा को कुछ अधिक सुविधाएं प्रदान कीं।

किसी को भी शाह की बातों का विश्वास नहीं था, और न शाह ही अपनी शपथ पर दृढ़ रहना चाहता था। शाह ने सोचा कि रूस की सहायता से वह पार्लियामेंट को सरलता-पूर्वक तोड़ सकता है। अतएव उसने देश के प्रति विश्वास-घात करके रूस से सहायता मांगी, रूसी अधिकारी तो इसके लिऐ तैयार ही थे। ३ जून १९०८ को शाह, परशियन कोज़ाक ब्रिग्रेड को लेकर, शहर के बाहर चला गया, और उसने रूस की आर्थिक तथा सैनिक सहायता से राजधानी के समीप ही एक सैनिक शिविर स्थापित किया। वहां से उसने फ़ौजी क़ानून (मार्शल-ला) की घोषणा करदी, और वह राजधानी पर आक्रमण करने की तैयारियां करने लगा। उसने जनता को चेतावनी दी कि राष्ट्रीय नेताओं को देश-निकाला दे दिया जावे, राजनैतिक समितियां तोड़ दी जावें, और समाचार-पत्रों पर रोक लगा दी जावे, नहीं तो यह सब तलवार के ज़ोर से होगा।

शाह ने कोज़ाक ब्रिग्रेड के रूसी जनरल लियाख़ोव को मिलिटरी गवर्नर नियुक्त किया, और २३ जून को उसने पार्लियामेंट

पर आक्रमण कर दिया। चार घंटे तक दोनों पक्षों में युद्ध हुआ, जिसमें बहुत से राष्ट्रीय नेता मारे गये। पार्लियामेंट भवन नष्ट कर दिया गया, रक्षक मारे गये, बहुत से क़ैद कर लिये गये, शेष भाग खड़े हुये। योरोपीय राष्ट्रों की सहायता से शाह ने पार्लियामेंट भंग कर दी। रूसी अधिकारियों ने राजधानी तेहरान में ऐसा अत्याचार किया कि सारे नगर में आतंक छा गया। राजधानी पर शाह और उसके रूसी सलाहकारों का अधिकार होगया। किन्तु प्रान्तों ने इस परिवर्तन को स्वीकार नहीं किया। प्रान्तों में लगातार कई महीनों तक युद्ध चलता रहा। तबरेज़ की राजनैतिक समितियों ने शाह तथा रूसी सेना का दस महीने तक सामना किया। रूस के लिए यह स्वर्ण-अवसर था, अतएव रूसी अधिकारियों ने इसका लाभ उठाकर सारे उत्तर फ़ारस पर अधिकार कर लिया।

देश-भक्त ईरानी इस प्रकार हार मानने वाले नहीं थे; तबरेज़ की विद्रोही सेनाओं का नेतृत्व बाक़िरखां तथा सत्तारखां कर रहे थे। इधर इसफहान के समीप शमसम-अस सुलताना और सरदार ई-असद के सेनापतित्व में, देश-भक्तों ने विद्रोह कर दिया। रशत के समीप भी विद्रोही सेनाएं इकट्ठी होगईं। १३ जुलाई १९०९ को विद्रोही सेनाओं ने तेहरान पर अधिकार कर लिया, शाह और उसके साथी भाग कर रूसी दूतावास में चले गये। १६ जुलाई को पार्लियामेंट ने शाह को गद्दी से उतार दिया, और उसके ग्यारह वर्ष के पुत्र अहमद को सिंहासन पर बैठाया।

भूत-पूर्व शाह फारस छोड़कर बाहर चला गया। विजयी राष्ट्रीय नेताओं ने केवल शेख फज़ल उल्ला तथा पांच अन्य देश-द्रोही नेताओं को फांसी दी; वैसे यह क्रान्ति शान्ति-पूर्वक हो गई।

१५ नवम्बर १९०९ को दूसरी पार्लियामेंट का उद्घाटन हुआ, शाह ने सहानुभूति-पूर्ण व्याख्यान दिया। तथापि फारस की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। बात यह थी कि क्रान्ति की सफलता के उपरान्त नेताओं और प्रभावशाली व्यक्तियों की पारस्परिक ईर्षा द्वेष तथा स्वार्थपरता फिर होने लगी। पूर्वीय देशों में यह भी एक बहुत बड़ा दोष है। क्रांति अथवा किसी उत्तेजना के समय तो वे अपने व्यक्तिगत स्वार्थों और द्वेष की परवाह न करके एक होजाते हैं, किन्तु शान्ति स्थापित होजाने के उपरान्त वे राष्ट्र-हित को भूलजाते हैं। फिर, फारस में रूस और ब्रिटेन दो साम्राज्यवादी देश भी अपना डेरा जमाये हुए थे। इस का फल यह हुआ कि देश में कुप्रबन्ध, आर्थिक संकट, तथा गड़बड़ पूर्ववत ही बनी रही।

उत्तरी फारस में रूसी सेनाएं जमी हुई थीं, और अब वस्तुतः वहां रूस का अधिकार होगया। फारस सरकार ने पांच लाख पौंड का ऋण लेने की इच्छा प्रगट की, किन्तु रूस तथा ब्रिटेन की कड़ी शर्तों के कारण, उसने ऋण उनसे न लेकर इंग-लैंड के एक बैंक से लेने का प्रबन्ध किया। रूस और इङ्गलैंड ने फारस सरकार को वहां से ऋण नहीं लेने दिया। अब दोनों योरोपीय साम्राज्यवादी देश फारस सरकार के कार्यों में हस्तक्षेप

करने लगे। उधर भूत-पूर्व शाह भी षड़यंत्र रच रहा था। रूसी तथा ब्रिटिश राजदूतों के दबाव के कारण, फारस के वैदेशिक मंत्री हुसेनकुलीखां को अपना पद छोड़ना पड़ा, और अर्थ-सचिव सनी-उद्दौला को दो रूसियों ने गोली से मार दिया। रूसी दूतावास ने उन दोनों अभियुक्तों को मांगकर रूस भेज दिया, जहां उनको दंड भी नहीं दिया गया। इधर अंग्रेजों ने दक्षिण में गमनागमन के साधनों की कमी तथा डाकुओं की बहुतायत का बहाना लेकर, फारस सरकार को अंग्रेज अधिकारी नियुक्त करने के लिए बाध्य किया।

भूत-पूर्व शाह योरोप में घूम घूम कर अपने लिए सहायता प्राप्त कर रहाथा, उसका अभिप्राय फारस पर आक्रमण करने का था। जुलाई १९११ में रूस की सहायता लेकर उसने फारस के उत्तरी भाग पर आक्रमण कर दिया। तेहरान पर उसका अधिकार होगया, किन्तु राष्ट्रीय नेताओं ने उसको आगे नहीं बढ़ने दिया। सितम्बर में शाह की पराजय हुई और वह भाग गया; रूसी तथा ब्रिटिश दूतों के जोर देने पर फारस सरकार ने उस की पेंशन को पूर्ववत देना स्वीकार किया।

फारस की आर्थिक दशा गिरती जा रही थी, अतएव मंत्री-मंडल ने मारगन शुशटर नामक एक विशेषज्ञ को पूर्ण अधिकार देकर राष्ट्रीय आय-व्यय का अधिकारी नियुक्त कर दिया। उस अमरीकन विशेषज्ञ ने बड़ी कठिनाई से फारस का ऐसा बजट

तैयार किया जिसमें घाटा नहीं था। किन्तु रूस ने हस्तक्षेप किया, और नवीन कर नहीं लगने दिया। जिन धनी व्यक्तियों ने कर बिलकुल नहीं दिया, उनकी रूसी सेना ने रक्षा की। बात केवल यहां तक ही नहीं रही; रूस में २६ नवम्बर १६११ को फारस सरकार के पास इस आशय की चुनौती भेजी कि वह शुस्टर को निकालदे,और भविष्य में किसी भी विदेशी विशेषज्ञ को, रूस और इङ्गलैंड की सलाह के बिना न रखे। पार्लियामेंट ने इस अपमान-जनक शर्त को स्वीकार नहीं किया। २४ दिसम्बर १६११ को रूस ने अधिक सेनाएँ भेजीं, पार्लियामेंट तोड़ दी गई, और एक दब्बू मंत्री-मंडल की स्थापना की गई, जिसने रूस की मांग को स्वीकार कर लिया। जनवरी १६१२ में मार्गन शुस्टर फारस से वापस चला गया। रूसी अधिकारी केवल इतने से ही संतुष्ट नहीं हुए; तबरेज़, रश्त, तथा यनज़ली में तीन रूसी सैनिकों ने प्रजातंत्रवादियों को ढूँढ़-ढूँढ़ कर मार डाला। एक बार फिर योरोपीय साम्राज्यवादी देशों के हस्तक्षेप के कारण फारस की पार्लियामेंट का अन्त हो गया।

सन् १६१२ के आरम्भ में विधान को अस्थायी रूप से स्थगित कर दिया गया। पार्लियामेंट का अधिवेशन बुलाया ही नहीं गया, और लिबरल नेताओं को या तो क़ैद कर लिया गया, या देश-निकाला दे दिया गया। देश में जितनी भी राजनैतिक संस्थाएं थीं, तोड़ दी गईं। उस समय वास्तव में फारस का शासन-सूत्र रूस और ब्रिटेन के हाथ में था। रूसी अधिकारियों

ने शुस्टर के स्थान पर एक बैलजियन अर्थशास्त्री को रक्खा, जो रूसी अधिकारियों के हाथ की कठपुतली-मात्र था। सारा फारस उससे घृणा करता था। शासन-व्यवस्था इतनी बिगड़ गई थी कि कोई भी मंत्री अधिक समय तक नहीं टिक पाता था। १९१२ के मध्य में पार्लियामेंट द्वारा नियुक्त रिजैंट (राज-प्रतिनिधि) नासिरुलमुल्क ने देखा कि वह देश को विदेशियों के हाथ से नहीं निकाल सकता; वह फारस से चला गया।

अभी तक विदेशियों के हस्तक्षेप के कारण पार्लियामेंट का अधिवेशन नहीं हुआ था, किन्तु २१ जुलाई १९१४ को अधिवेशन बुलाना अनिवार्य हो गया, क्योंकि युवक शाह का राज्याभिषेक होने वाला था। पार्लियामेंट का अधिवेशन आरम्भ ही हुआ था कि योरोपीय महायुद्ध छिड़ गया।

तीसरी पार्लियामेंट का अधिवेशन नवम्बर १९१५ तक चलता रहा। पार्टियामेंट में प्रजातंत्रवादियों का बहुमत था, और उन्होंने जर्मनी और टर्की का पक्ष ग्रहण करने का समर्थन किया। इस पर रूसी सेना बढ़ती हुई, तेहरान तक आपहुंची, और प्रजातन्त्र-वादी भाग खड़े हुए। तीसरी पार्लियामेंट का भी अन्त होगया फारस में अव्यवस्था छागई। युद्ध के समय फारस पर तुर्की, रूसी और अंग्रेजी सेनाओं का अधिकार था। फारस ने किसी के पक्ष में अथवा विपक्ष में युद्ध घोषणा नहीं की थी, किन्तु साम्राज्यवादी शक्तियां इसे उपयुक्त अवसर समझ कर निर्बल फारस को हड़प

जाना चाहती थीं। उत्तर-पश्चिम फारस में रूसी और तुर्की सेनाएं युद्ध कर रही थीं, उत्तर-पूर्व रूस के अधिकार में था, और दक्षिण फारस पर अंग्रेज़ अधिकार जमाये बैठे थे। अंग्रेज़ों ने देखा कि उत्तर में जो रूस ने रूसी-परशियन कोज़ाक ब्रिगेड का संगठन करलिया है, इससे उसकी शक्ति बढ़ गई है, अतएव उन्होंने भी १९१६ में सर परसी साइक्स को अधीनता में दक्षिणी परशियन राइफल्स का संगठन कर लिया। जब कि १९१८ में क्रांति के कारण, ज़ारशाही रूस का पतन हुआ, और रूसी सेनाएं पराजित हुईं तो अंग्रेज़ों ने उत्तर फारस पर भी अधिकार कर लिया। यह फारस के लिए अत्यन्त निराशाजनक समय था। देश में कोई सरकार नहीं थी, रूस की शक्ति का अन्त हो चुका था, और अंग्रेज़ों का ईरान पर अधिकार होगया था। ऐसा प्रतीत होता था कि फारस की स्वतंत्रता का दीपक सर्वदा के लिए बुझने वाला है।

किन्तु देश-भक्त ईरानियों ने ऐसे भयंकर समय में भी साहस नहीं छोड़ा। उन्होंने इत्तिहाद-उल-इस्लाम नामक संस्था की स्थापना की, और वे वीरवर कुचिक खां के नेतृत्व में ब्रिटिश सेनाओं का मुकाबला करने लगे। कुचिक खां और उसके वीर जंगली सैनिकों ने मातृभूमि की स्वतंत्रता के लिए अपने रुधिर को बहाया, और फारस को परतंत्र होने से बचा लिया। उत्तर फारस में वे अंग्रेज़ों से युद्ध कर रहे थे, और दक्षिण में देश-भक्त ईरानी, अंग्रेज़ों का स-शस्त्र विरोध कर रहे थे।

१९१८ के फरवरी मास में फारस, सरकार ने यह घोषणा की कि पर्शियन राइफल्स विदेशी सेना है तथा फारस की स्वतंत्रता को खतरे में डालने का साधन है। उसने एक नोट लिख कर ब्रिटिश सरकार से यह प्रार्थना की कि वह फारस से अपनी सेनाएं हटा ले, जिससे फारस सरकार को शासन-व्यवस्था के सुधारने का अवसर मिले।

इङ्गलैंड किसी और ही विचार में था, वह किसी न किसी प्रकार फारस को अपना संरक्षित राज्य बना लेना चाहता था। १९१९ में सर परसी काक्स तेहरान में ब्रिटिश मंत्री होकर आये। उस समय अभाग्य-वश फारस का प्रधान मंत्री वोसघउद्दौला था, उसका मंत्री-मंडल भीरु तथा अंग्रेजों के पक्षपातियों से भरा हुआ था। ब्रिटिश मंत्री ने उसे दबाकर ऐंग्लो पर्शियन संधि पर हस्ताक्षर करवा लिए। उस संधि के अनुसार सारा फारस अंग्रेजों के अधिकार में चले जाने, तथा सारा शासन तथा सेना अंग्रेजों की अधीनता में रहने की बात निश्चित होगई। किन्तु पार्लियामेंट किसी प्रकार भी यह दासता का पट्टा स्वीकार करने को तैयार नहीं हुई। इसलिए मंत्री-मंडल का पतन हुआ, और बड़ी शीघ्रता से मंत्री-मंडल बनने और टूटने लगा, परन्तु किसी का यह साहस न हुआ कि वह इस संधि को स्वीकार करे।

२१ फरवरी १९२१ को रूसी अधिकारियों द्वारा संगठित कोज़ाक बिग्रेड ने रिज़ा ख़ाँ के नेतृत्व में नवीन मंत्री-मंडल

बनाया। रिज़ा ख़ाँ युद्ध-सचिव बनाया गया, और सियाअद्दीन प्रधान मंत्री बना। सियाअद्दीन शासन-व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन करना चाहता था। उसने बड़ी-बड़ी जमींदारियों और रियासतों का राष्ट्रीयकरण करके, उनको किसानों में बांट देने का प्रयत्न किया, और बड़े-बड़े धनिकों को क़ैद करके उनकी सम्पत्ति का कुछ भाग राज्य के लिए ले लिया। उसका कहना था कि धनी वर्ग अभी तक राज्य को कर नहीं देता था, और इसी कारण उसके पास इतनी अधिक सम्पत्ति इकट्ठी हो गई है, अतएव राज्य को उसमें से कुछ भाग ले लेने का अधिकार है। किन्तु ईरान अभी ऐसी क्रान्ति को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। फल यह हुआ कि जनता उसके विरुद्ध हो गई, और उसको मई १६२१ में देश छोड़कर भागना पड़ा। अब वस्तुतः युद्ध-सचिव रिज़ा ख़ाँ ही फ़ारस का शासक था; यद्यपि उसने प्रधान मंत्री का पद स्वीकार नहीं किया।

उधर मई १६२० में सोवियट रूस की सेनाएँ उत्तर फ़ारस में, ब्रिटिश सेनाओं का सामना करने के लिए बढ़ती चली आ रही थीं। रूस अब साम्राज्यवादी नहीं रहा था, उसने ज़ार का अन्त करके देश की आर्थिक तथा सामाजिक अवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया था। योरोप के अन्य साम्राज्यवादी देश पूंजीवाद के इस घोर शत्रु सोवियट रूस का शीघ्र ही अन्त कर देना चाहते थे। अतएव रूस ने एशियाई देशों से मैत्री का सम्बन्ध स्थापित करके, उनको साम्राज्यवाद के पंजे से छुड़ाने का मानों

प्रण कर लिया था। इसी उद्देश्य से सोवियट रूस ने टर्की की सहायता की, जिससे वह स्वतंत्र राष्ट्र बन सका। अपनी इसी नीति के कारण रूस ने फ़ारस से भी संधि कर ली।

अक्तूबर १६२० में फ़ारस का टर्की-स्थित राजदूत मास्को गया, और वहां उसने संधि की बातचीत की। इधर सियाउद्दीन फ़ारस का प्रधान मंत्री हो गया था, उसने स्पष्ट रूप से ऐंग्लो-पर्शियन संधि अस्वीकार कर दी। २६ फरवरी १६२१ को रूस से फ़ारस की संधि हो गई। अप्रेल में रूस का नवीन राजदूत रोथस्टीन तेहरान आ गया। अंग्रेज़ों ने देखा कि अब उत्तर फ़ारस में ठहरना ठीक नहीं है, अतएव उन्होंने वहां से अपनी सेनाएँ हटा लीं। इस पर रूसी सेनाएँ भी वहां से हट कर बाकू की ओर चली गईं। २२ जून १६२१ को फ़ारस की चतुर्थ पार्लियामेंट का अधिवेशन आरम्भ हुआ। पार्लियामेंट ने ऐंग्लो-पर्शियन संधि अस्वीकार कर दी; अंग्रेज़ कर्मचारियों, सैनिक, विशेषज्ञों, तथा आर्थिक सलाहकारों को निकाल दिया गया। दक्षिणी पर्शियन राईफल्स सेना को तोड़ दिया गया। १६२१ के अन्त में सब अंग्रेज़ी सेना देश छोड़ कर चली गई।

पार्लियामेंट ने रूसी-पर्शियन संधि को स्वीकार कर लिया। यह संधि इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि रूस ने इसके द्वारा अपनी पूर्वीय नीति को प्रगट किया है। इसमें कहा गया कि "सोवियट रूसी सरकार घोषणा करती है कि वह फ़ारस

तथा एशियाई देशों के प्रति जारशाही की शोषक नीति को भविष्य में कभी स्वीकार न करेगी। यह प्रमाणित करने के लिए कि सोवियट सरकार एशियाई राष्ट्रों को आत्म-निर्णय का अधिकार देने के सम्बन्ध में सचाई के साथ अपनी घोषित नीति का पालन करेगी, वह उन सब संधियों, समझौतों, और इक़रारनामों को अनियमित घोषित करती है, जो जार के समय में रूस ने फ़ारस का शोषण करने के लिए किये थे। सोवियट सरकार उस साम्राज्यवादी घातक नीति को अस्वीकार करती है, जिसके द्वारा पूर्वीय देश योरोपीय साम्राज्यवादी राष्ट्रों के द्वारा शोषित होते हैं। अतएव भविष्य में वह किसी ऐसी राजनैतिक हलचल में भाग नहीं लेगी, जिससे कि फ़ारस की स्वतंत्रता को हानि पहुंचे। साथ ही वह उन सब संधियों को भी अनियमित घोषित करती है, जो कि रूस ने फ़ारस के हितों के विरुद्ध अन्य राष्ट्रों से की हैं।"

सन् १८९३ में जो प्रदेश तथा द्वीप फ़ारस ने रूस को दे दिये थे, वे वापस कर दिये गये। संधि में यह शर्त भी थी कि यदि कोई विदेशी शक्ति फ़ारस की भूमि पर अधिकार रक्खेगी तो रूस को भी अपनी सेना रखने का अधिकार होगा। रूस ने फ़ारस का सारा ऋण माफ कर दिया, रूसी बैंक फ़ारस सरकार को दे दिया, और वे सब सड़कें, तार की लाइनें तथा बंदरगाह जो रूस ने अपने धन से बनवाये थे, फ़ारस सरकार को बिना मूल्य ही वापस दे दिये। किन्तु रूस ने संधि में यह शर्त रख दी कि फ़ारस सरकार इनको किसी तीसरी शक्ति के हाथ में नहीं देगी। रूसी

मिशन की सारी सम्पत्ति तथा इमारतें रूस ने फ़ारस में स्कूल खोलने के लिए दे दी, और अपने विशेष अधिकारों और सुविधाओं को छोड़ दिया।

वास्तव में, यदि देखा जावे तो फ़ारस को स्वतंत्र करने वाला सोवियट रूस है। रूस-पर्शियन-संधि के कारण फ़ारस में एक नवीन आशा का युग आरम्भ हुआ। फारस की भूमि पर अब कोई विदेशी सेना अधिकार जमाये नहीं बैठी थी। रूस की संधि से उत्साहित होकर फ़ारस सरकार ने यह घोषणा करदी कि वह अन्य राष्ट्रों के विशेष अधिकारों को भी भविष्य में स्वीकार नहीं करेगी। भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के दूतावासों की रक्षा का भार फारस सरकार ने ले लिया। विदेशी मिशनरी स्कूलों को शिक्षा विभाग के अधीन कर दिया गया। भविष्य में विदेशियों से भी कर वसूल किया जाने लगा। फ़ारस सरकार ने ऐंग्लो-पर्शियन-कंपनी को उत्तर फ़ारस में दी हुई सुविधाओं को वापस ले लिया। बात यह थी कि १९०१ मे दक्षिण फ़ारस में एक आस्ट्रेलियन ने तेल निकालने की सुविधा प्राप्त करली थी, बाद को बर्मा आयल कंपनी ने इन तेल की खानों को ले लिया, और १९०९ में ऐंग्लो-पर्शियन-आयल कम्पनी स्थापित हुई, और वह इन खानों से तेल निकालने लगी। १९२० में जब उत्तर फ़ारस पर भी अंग्रेजों का अधिकार हो गया तो वहां भी तेल निकालने की सुविधा प्राप्त करली गई, परन्तु नव ईरान अब

इस प्रकार की सुविधाएं देना नहीं चाहता था; पार्लियामेंट ने उसे कभी स्वीकार ही नहीं किया था।

फ़ारस की स्वतंत्रता को अक्षुण बनाये रखने तथा उसके अस्त-व्यस्त राज्य को सुसंगठित बनाने का श्रेय रिज़ाखां को था। वह आरम्भ में पर्शियन कोज़ाक ब्रिगेड में एक साधारण कोज़ाक था, किन्तु अपनी योग्यता के बल से वह उन्नति करता चला गया, यहां तक कि १९२१ में उसने तत्कालीन मंत्री-मंडल को भंग कर दिया, और स्वयं युद्ध-सचिव बन गया। उस दिन से उसने सरदार-सिपाह की पदवी धारण की। १९२३ में शाह के चाटुकार दरबारियों ने रिज़ाखां के विरुद्ध षडयंत्र किया, किन्तु वे सफल नहीं हुए। अब रिज़ाखां स्वयं फ़ारस का प्रधान मंत्री तथा अधिनायक बन गया, और उसने शाह को ईरान छोड़ कर विदेश जाने के लिए विवश किया। रिज़ाखां की यह इच्छा थी कि वह फ़ारस में प्रजातंत्र की स्थापना करे, किन्तु देश इसके लिए तैयार नहीं था। धर्माचार्य तथा काज़ी प्रजातंत्र का विरोध कर रहे थे। मार्च १९२४ में जब पार्लियामेंट का अधिवेशन आरम्भ हुआ तो जनता ने, मुल्लाओं के भड़काने पर, प्रजातंत्र की स्थापना के विरुद्ध, पार्लियामेंट-भवन के सामने प्रदर्शन किया।

कुछ दिनों के उपरान्त रिज़ा खां स्वयं कुम गया और वहां के प्रसिद्ध तथा प्रमुख मुजतहिदों से मिला। उसने प्रजातंत्र की

स्थापना के सम्बन्ध में उनसे बात-चीत की। वे सब प्रजातंत्र के विरुद्ध थे, क्योंकि उन्हें भय था कि टर्की की भांति फ़ारस में प्रजातंत्र स्थापित होने पर उनका प्रभाव नष्ट हो जावेगा। कुम से लौटकर रिज़ाखां ने यह घोषणा कर दी कि राजतंत्र को नष्ट करना फ़ारस के लिए ख़तरनाक होगा। रिज़ाखां का, मुस्तफ़ा कमाल की नीति को अपनाने का प्रयत्न विफल हुआ, क्योंकि फ़ारस में उस समय भी धर्माचार्यों तथा क़ाज़ियों का बड़ा प्रभाव था। एक कारण और भी था, जिससे रिज़ाखां का साहस नहीं पड़ा कि वह धर्माचार्यों के विरोध करने पर भी फारस में प्रजातंत्र की स्थापना करदे। बात यह थी कि मुस्तफ़ा कमाल के समान रिज़ाखां उस समय तक अपने देशवासियों का यथेष्ट श्रद्धा-पात्र नहीं बन पाया था। अस्तु, फारस में प्रजातंत्र की स्थापना न हो सकी।

अब केवल दक्षिण में मोहामेराह का शेख ऐसा था जो केन्द्रीय सरकार की अधीनता स्वीकार नहीं करता था। उसकी रियासत फ़ारस की खाड़ी पर स्थित होने, तथा तेल की खानों के समीप होने के कारण अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण थी। रिज़ाखां ने सेना लेकर उस पर आक्रमण कर दिया और उसको अपने अधीन कर लिया। शेष सरदार तो पहले ही केन्द्रीय सरकार की अधीनता स्वीकार कर चुके थे। अब रिजाखां ने देश के पुनः-निर्माण का कार्य हाथ में लिया। नवम्बर १९२२ में पार्लियामेंट ने एक अमरीकन अर्थ-विशेषज्ञ को आर्थिक सुधार करने के

लिए नियुक्त किया। उसने शीघ्र ही फ़ारस सरकार का संतुलित बजट बना दिया। फ़ारस के पिछले वर्षों के इतिहास में यह पहला अवसर था कि राज्य के बजट में कोई घाटा नहीं था। बजट की यह भी विशेषता थी कि इसमें, फ़ारस की सेना का पश्चिमीय ढंग पर संगठन करने के लिए, एक बहुत बड़ी रक़म व्यय की जाने की व्यवस्था थी। रिज़ाखां ने शीघ्र ही सेना का आधुनिक ढंग पर संगठन किया और उसे देश के भिन्न-भिन्न प्रमुख केन्द्रों में स्थायी रूप से रख दिया। अभी तक उत्तरीय तथा मध्य ईरान के पठार का प्रदेश केन्द्रीय सरकार के पूर्ण अधिकार में नहीं था, रिज़ाखां ने उसे अधीन कर लिया। रिज़ा खां के इन कार्यों ने उसे फारस का राष्ट्रीय वीर बना दिया। राष्ट्र उसे अपना रक्षक, तथा नव ईरान का जनक मानने लगा। ३१ अक्तूबर १९२५ को पार्लियामेंट ने तत्कालीन काजार राजवंश का, ईरान के सिंहासन पर बैठने का अधिकार छीन लिया, और निर्वासित शाह को सिंहासन से उतार दिया। अब रिज़ाखां के सामने ईरान का सिंहासन स्वागतार्थ प्रस्तुत था। परन्तु उस समय रिज़ाखां 'चीफ-आव-दी-स्टेट' चुना गया, और थोड़े समय के उपरान्त वह शाह पहलवी प्रथम की उपाधि धारण कर ईरान के सिंहासन पर बैठा।

शाह पहलवी प्रथम ने यह भली भांति समझ लिया था कि फारस अपनी स्वतंत्रता को तभी अक्षुण्ण बनाये रख सकेगा जब कि यह मध्य युग से निकल कर, एक आधुनिक राष्ट्र बने, और

उसमें राष्ट्रीयता की भावना का पूर्ण रूप से विकास हो । उसने सिंहासन पर बैठते ही फारस को आधुनिक राष्ट्र बनाने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया। उसने सेना का संगठन आधुनिक ढंग पर किया। हवाई सेना, तोपों तथा टैंकों का समुचित प्रबंध किया गया, गमनागमन के साधनों की बड़ी शीघ्रता से उन्नति की गई। यद्यपि अभी ईरान में रेलों का अधिक विस्तार नहीं हुआ है, सड़कों का बड़ा अच्छा प्रबन्ध हो गया है। ऐसी अच्छी सड़कें देश में पहले कभी नहीं थीं; अब यात्रा करने में तनिक भी जोखिम नहीं है, पुलिस का प्रशंसनीय प्रबंध है । मोटर लारी देश में सर्वत्र चलती हैं; राज्य का उन पर कड़ा अनुशासन है, इसलिए यात्रियों को कष्ट नहीं होता । सभी प्रमुख नगरों में बिजली का प्रबंध है।

राज्य की आर्थिक व्यवस्था भी राष्ट्र-हित को दृष्टि में रखकर की गई है, अब धनी ईरानी कर देने से नहीं बच सकते। राज्य की आर्थिक दशा अच्छी है, और सारे विभागों की उन्नति की जा रही है। सूती तथा ऊनी कपड़े, तथा चुकंदर की चीनी के कारखाने स्थापित किये गये हैं, अन्य उद्योग धंधों की उन्नति करने तथा ईरान की प्राकृतिक देन को उपयोग में लाने के उपाय सोचे जारहे हैं। आयात तथा निर्यात को सरकार ने अपने ही हाथ में रक्खा है।

शिक्षा की ओर शाह पहलवी का बहुत ध्यान है, वह जानता

है कि यदि देश में शिक्षा का विस्तार नहीं हुआ तो मुल्लाओं तथा प्रतिक्रियावादियों का प्रभाव नष्ट न हो सकेगा, और न शुद्ध राष्ट्रीयता का ही उदय होगा। देश की सर्वांगीण उन्नति करने के लिए देश में बुद्धिवाद के प्रचार की आवश्यकता है, जो बिना ठीक शिक्षा के हो ही नहीं सकता। अतएव शाह ने पुराने, क़ुरान के स्कूलों के स्थान पर आधुनिक ढंग के स्कूल और कालेज स्थापित किये हैं; उनमें बिलकुल नवीन शिक्षा पद्धति का अनुसरण किया जा रहा है। राज्य शिक्षा को अनिवार्य कर देने का विचार कर रहा है। केवल लड़कों में ही नहीं, लड़कियों तक में आधुनिक शिक्षा का बड़ी तेज़ी से प्रचार हो रहा है। इसका एक फल यह भी हुआ है कि फ़ारस में समाचार-पत्रों तथा मासिक पत्रों की एक बाढ़ सी आ गई है, और पत्रों का राष्ट्र के जीवन पर पूरा प्रभाव है।

ईरान के इस राजनैतिक परिवर्तन के साथ ही वहां एक नवीन राष्ट्रीयता का जन्म हुआ है। राष्ट्र की विचारधारा में बड़ी क्रान्ति उत्पन्न हो गई है। ईरान आज अपना संबंध प्राचीन गौरवशाली ईरान से जोड़ना चाहता है। अब फारसी साहित्य में, दरयेश और सेरोश के ईरान की समृद्धि और प्रतिष्ठा का गौरव-युक्त विवरण पढ़ने को मिलता है। जब से ईरान अरबों के हाथ में आया (सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से), इस समय तक के काल को शिक्षित ईरानी देश का पतन-काल मानते हैं, और अब वह अरबी संस्कृति तथा सभ्यता को नमस्कार कर

अपनी प्राचीन सभ्यता को अपनाना चाहते हैं। अभी तक मानों ईरान अपनी पुरातन संस्कृति को भूला हुआ था, अब वह जाग उठा है। अरबों ने ईरान पर केवल राज्य ही नहीं किया, वरन् उन्हें उसको विवश किया कि वह अपने पुरातन से नाता तोड़ दे। अब लगभग तेरह सौ वर्ष के बाद उसकी प्रतिक्रिया हुई है।

ईरानी अपने पूर्वजों की वीर गाथा तथा गौरवशाली इतिहास को भूल चुके थे। फिर्दौसी ने शाहनामा लिखकर ईरान के प्राचीन वीरों का गुणगान किया था, किन्तु उसको किसी ने पूछा तक नहीं। परन्तु नव-ईरान ने अपने उस राष्ट्रीय-कवि की कब्र ढूंढ निकाली। उस पर संगमरमर का सुन्दर मकबरा बनवाया गया, और हज़ार-साला उत्सव मनाया गया, और शाहनामा में वर्णित मूर्तियों को अंकित करवाया गया। तूस के जन-शून्य खंडहर एक बार फिर राष्ट्र के लिए श्रद्धा की वस्तु बन गये। नव ईरान का शाह पहलवी, फिर्दौसी की क़ब्र पर अपनी पुष्पांजलि चढ़ाने गया। इस राष्ट्रीय समारोह के समय संसार के सभी प्रमुख राष्ट्रों के प्रतिनिधि उपस्थित थे।

ईरान, टर्की की भांति पुरानी सड़ी हुई केंचुली को बदल डालना चाहता है। अरबी भाषा का सर्वथा बहिष्कार किया जा रहा है, यहां तक कि अरबी लिपि को भी धता बताने का प्रयत्न किया जा रहा है। राज्य ने हज़ारों मस्जिदों, मक़बरों और क़ब्रों को सड़कें निकालने के लिए खुदवा डाला; क़ब्रगाहों को बगीचों

और उद्यानों में परिणत कर दिया गया है। शहरों में मुर्दों को दफ़नाने का काम सरकार ने अपने हाथ में ले लिया है। १९३६ में एक क़ानून बनाकर स्त्रियों का पर्दा बन्द कर दिया गया। शहरों में शिक्षित महिलाएं बाल कटवाती हैं, अंग्रेज़ी पोशाक पहनती हैं, और खेलने जाती हैं। शाही फ़रमान निकाल कर योरोपियन पोशाक का प्रचार किया गया। मशहद के मुल्लाओं ने इस फ़रमान का विरोध करना चाहा। शाह ने मुल्लाओं का दमन करने की आज्ञा दे दी। पहले तो गवर्नर ने समझाया परन्तु फिर गोली चली, तब से मुल्ले चुप्पी साध गये, अब वे किसी प्रकार का विरोध नहीं करते। मुल्लाओं को सरकार से लाइसैंस लेना पड़ता है। उन्हें सड़कों पर चिढ़ाया जाता है। क्रमशः मुल्लाओं का देश में प्रभाव कम होता जा रहा है। शिक्षित ईरानी अपने बच्चों के नाम अरबी नामों पर न रखकर अब प्राचीन अग्नि-पूजक ईरानियों के नाम पर रखते हैं, यहां तक कि सड़कों के नाम भी प्राचीन नामों पर ही रक्खे जा रहे हैं। ईरान में इस समय क्रान्ति की तीव्र लहर चल रही है, और यह नवीन राष्ट्रीय क्रान्ति ही उसका सब से बड़ा बल होगी।

१९३५ में रिज़ाशाह पहलवी ने ईरान विश्व-विद्यालय का शिलारोपण किया, शीघ्र ही ईरान में एक प्रथम श्रेणी का विश्व-विद्यालय स्थापित होजावेगा। युवकों में सेवा-भाव तथा जागृति उत्पन्न करने के लिए एक अमरीकन अध्यापक के नेतृत्व में स्काऊट आन्दोलन बड़ी तेज़ी से चल रहा है। दो वर्ष हुए,

देश से अशिक्षा को हटाने के लिए एक संस्था स्थापित की गई है, जो साढ़े सात सौ से अधिक रात्रि-पाठशालाएं चला रही है, जिन में प्रौढ़ व्यक्ति शिक्षा पा रहे हैं। पुलिस तथा अन्य छोटे राज्य-कर्मचारियों के लिए इन रात्रि-पाठशालाओं में अध्ययन करना अनिवार्य बना दिया गया है। गमनागमन के साधनों की उन्नति के लिए दो रेलवे लाइनों को बनाने की आज्ञा दी गई है; एक, उत्तर से दक्षिण को; और दूसरी, पूर्व से पश्चिम की ओर। उत्तर की रेलवे लाइन तेहरान तक बन गई है, १६४० तक योजना पूर्ण होजावेगी।

परन्तु अभी ईरान को बहुत कुछ करना शेष है। जब तक शिक्षा का विस्तार, गमनागमन के साधनों की उन्नति, और औद्योगिक तथा व्यापारिक प्रगति पूर्ण रूप से न हो ले, तब तक राष्ट्रीय क्रांति पूर्ण रूप से सफल हुई न समझी जानी चाहिये। किन्तु ईरान, शाह रिज़ाशाह पहलवी के नेतृत्व में, शीघ्र ही एक आधुनिक राष्ट्र बन जावेगा, इसमें कोई संदेह नहीं। शाह पहलवी ने ईरान की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति को दृढ़ करने के उद्देश्य से अफगानिस्तान, टर्की तथा ईराक़ से सन्धियां करली हैं। फारस, राष्ट्र संघ का भी सदस्य है।

—०-*-०—

छठा परिच्छेद

अफगानिस्तान की राष्ट्रीय जागृति

बीसवीं शताब्दी में भी अफगानिस्तान रूढ़िवाद में फँसा, धर्मान्ध मुल्लाओं द्वारा प्रभावित, छोटे-छोटे कबीलों में विभाजित, और पश्चिमीय सभ्यता से अपने को बचाये हुए, जीवित है। अफगान वीर, स्वतंत्रता-प्रेमी तथा बर्बर हैं, और अपने धार्मिक गुरुओं की आज्ञा मानकर वे अपने आप को भयंकर से भयंकर विपत्ति में झोंक देने के लिए सहर्ष तत्पर रहते हैं। यही कारण है कि अफगानिस्तान अभी तक पूर्ण रूप से एक राष्ट्र नहीं बन पाया है,

और न राष्ट्रीयता की भावना का ही वहां सच्चे अर्थ में उदय हुआ है। धार्मिक आचार्य जानते हैं कि जहां अफगानिस्तान में राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव हुआ कि हमारा प्रभाव नष्ट हुआ। इसलिए वे अफगानियों में राष्ट्रीयता की भावना का उदय ही नहीं होने देते। यही कारण है कि अफगानी छोटे-छोटे कबीलों में विभाजित रह कर, अपने धार्मिक गुरुओं के नेतृत्व में, अपने कबीले के स्वतंत्र अस्तित्व की रक्षा की ओर विशेष ध्यान देते हैं। समस्त अफगानिस्तान की हित-कामना उनके लिए अधिक आकर्षक वस्तु नहीं है। अफगानिस्तान में देश-भक्ति की सीमा बहुत ही संकुचित है, वहां की जनता में राष्ट्रीय भावना का उदय ही नहीं हुआ है। इसका एक कारण यह भी है कि वहां अभी शिक्षा बहुत कम है, और बुद्धिवाद के स्थान पर वहां रूढ़िवाद का बालबाला है।

माध्यमिक युग में सांस लेने वाला अफगानिस्तान भी अपने पड़ौसी सोवियट रूस की क्रान्ति के प्रभाव से नहीं बच सका। रूसी क्रान्ति का उस पर अमिट प्रभाव पड़ा है, और इसका ही यह फल है कि वहां नवीन विचार-धारा, तथा क्रान्तिकारी परिवर्तनों का प्रारम्भ हो गया।

अफगानिस्तान में रांगे, कोयले और तांबे की खानें हैं, नदियों की रेती में सोने का अंश भी पाया जाता है, परन्तु देश

में पूंजी न होने के कारण खनिज पदार्थों की खुदाई नहीं हो सकती। गमनागमन के साधनों की कमी के कारण, खनिज पदार्थों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने की सुविधाएं भी अभी तक पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं हैं। देश में तेल की भी खानें हैं, परन्तु वह भी दबी पड़ी हैं। आधुनिक व्यवसायी साम्राज्यवाद के अधिकार जमाने के लिए वहां सभी सामग्री मौजूद है, परन्तु अफ़गानिस्तान के अमीरों ने अन्य एशियाई देशों की दुर्दशा देखकर यह समझ लिया कि विदेशी कम्पनियों को सुविधा देने के साथ ही अफ़गानिस्तान का अस्तित्व भी नष्ट हो जावेगा। जर्मनी ने इस सम्बन्ध में सबसे अधिक प्रयत्न किया। १६२६ में अफ़गानों के साथ मित्रता की सन्धि हो जाने के उपरान्त, जर्मन इंजिनियर, तथा डाक्टर वहां अधिक संख्या में पहुँचने लगे। एक जर्मन कंपनी भी वहां पहुंची, जो अपने को मुसलमानों का पुराना दोस्त बतलाती है। परन्तु इन लोगों को वहां अधिक सफलता नहीं मिली, क्योंकि अफ़गान विदेशियों से हमेशा शंकित रहते हैं। इधर रूस भी अफ़गानिस्तान में घुसने तथा वहां अंग्रेज़ों के विरुद्ध प्रचार करने का प्रयत्न कर रहा है, परन्तु उसको भी अधिक सफलता नहीं मिल सकी है।

योरोपीय राजनीति में अफ़गानिस्तान का महत्व सर्व-प्रथम उस समय हुआ, जब नैपोलियन ने भारतवर्ष की ओर बढ़ने की योजना बनाई। अंग्रेज़ सशंक हो उठे और उसी दिन से उनकी दृष्टि अफ़गानिस्तान पर पड़ी। वे नैपोलियन से भयभीत थे;

स्थल-मार्ग से भारतवर्ष पर आक्रमण करने में अफ़गानिस्तान ही शत्रु-सेना के संचालन का आधार-केन्द्र बनता, अतएव अंग्रेज़ अफ़गानिस्तान को अपने प्रभाव-क्षेत्र में लाने की बात सोचने लगे। भाग्यवश मध्य-योरोप की उलझी हुई राजनैतिक समस्याओं ने नैपोलियन की भारत-विजय की योजना को सफल नहीं होने दिया। इसके उपरान्त नैपोलियन का पराभव हुआ, और उसकी ओर से जो भय था, वह जाता रहा। परन्तु तब तक ब्रिटेन के पूर्वीय साम्राज्य (भारतवर्ष) के लिए एक और भयंकर खतरा उपस्थित हो गया। रूस की साम्राज्य-विस्तार की योजना ने अंग्रेज़ों को अत्यन्त भयभीत कर दिया। इस प्रकार अफ़गानिस्तान, ब्रिटिश भारत तथा रूस के बीच में "मध्यवर्ती राज्य" होने के कारण, योरोपीय राजनीति में महत्व-पूर्ण बना रहा।

ब्रिटिश सरकार को यह आवश्यक प्रतीत होने लगा कि अफ़गानिस्तान भी उसके प्रभाव-क्षेत्र में आ जावे। इसी उद्देश्य से उसने अफ़गान अमीर को दबाने का निश्चय कर लिया। अभाग्य-वश अफ़गानिस्तान में क़ाबुल के सिंहासन को लेकर गृह-कलह उठ खड़ा हुआ, और ब्रिटिश सरकार को अपना उद्देश्य पूरा करने का अवसर मिल गया। उसने शाहशुजा का पक्ष लेकर अमीर दोस्त मुहम्मद पर आक्रमण कर दिया। यह अफ़गानिस्तान से युद्ध का सूत्रपात था, इसके उपरान्त कई बार वीर पठानों तथा भारत-सरकार की सेनाओं में मुठभेड़

हुई। यद्यपि पठान वीर, साहसी और स्वतंत्रता-प्रेमी थे, उनमें राष्ट्रीय भावना का पूर्ण से विकास नहीं हो पाया था, और न राष्ट्र की कोई संगठित शक्ति ही थी। इसलिए अफगान सरकार को भारत-सरकार के सामने झुकना, और अपनी वैदेशिक नीति को अंग्रेजों के हाथ में सौंप देना, पड़ा।

उन्नीसवीं शताब्दी अफ़गानिस्तान के इतिहास में अत्यन्त अशान्ति, अव्यवस्था तथा राजनैतिक उथल-पुथल का काल रही है। सन् १८८० में जब अब्दुर्रहमान अफ़गानिस्तान के अमीर बने, देश अस्त-व्यस्त हो रहा था। प्रत्येक कबीला अपने प्रदेश को स्वतंत्र राज्य मानता था। सामन्तशाही का बोलबाला था, छोटे-छोटे सामन्त इतने प्रबल थे कि वे केन्द्रीय सरकार की की नितान्त अवहेलना तथा उपेक्षा करते थे। एक सरदार दूसरे सरदार पर आक्रमण करता, देश में भयंकर मारकाट मचती, धन और जन का ह्रास होता, किन्तु शक्तिहीन केन्द्रीय सरकार चुपचाप बैठी, यह सब देखा करती। प्रतिकार करने की उसमें शक्ति ही नहीं थी। ऐसे क्षुब्ध तथा अशान्त वातावरण में देश में सुचारु रूप से शासन करना असम्भव था।

अमीर अब्दुर्रहमान ने बड़ी दृढ़ता तथा अत्यन्त कठोरता पूर्वक इन सरदारों और कबीलों का दमन करना आरम्भ किया, और उन्हें केन्द्रीय सरकार की अधीनता मानने को विवश किया। उसने केवल केन्द्रीय सरकार की शक्ति या प्रतिष्ठा

ही नहीं बढ़ायी, वरन् सेना का भी नवीन संगठन किया। उसके शासन काल में अफ़गानिस्तान की सैनिक शक्ति बहुत बढ़ गई। अमीर अब्दुर्रहमान ने शासन-यंत्र का भी सुधार किया, अयोग्य व्यक्तियों को हटाकर योग्य तथा सच्चरित्र व्यक्तियों को ऊंचे पद दिये। उसने न्यायालयों का भी सुधार किया। किन्तु इतने पर भी शासक की स्वेच्छाचारिता, शरियत द्वारा अनुमोदित भयानक दंड-विधान, तथा पुराने आर्थिक संगठन में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अमीर अब्दुर्रहमान के समय में भी अफ़गानिस्तान केवल आन्तरिक मामलों में ही स्वतंत्र था, वैदेशिक मामलों में उसके ऊपर ब्रिटिश सरकार का नियन्त्रण था। विदेशों से जो भी राजनैतिक बातचीत होती, वह भारत-सरकार के द्वारा ही हो सकती थी। यही नहीं, अमीर को यह भी अधिकार नहीं था कि वह अपने राजदूत दूसरे देशों को भेज सके, अथवा अन्य राष्ट्रों के दूतों को अपने देश में बुला सके। इसके उपलक्ष में अंग्रेज़ी सरकार अफ़गान अमीर को वार्षिक वृत्ति देती थी।

अमीर अब्दुर्रहमान बहुत ही चतुर शासक था, वह इङ्गलैंड तथा रूस दोनों से देश को बचाये रखना चाहता था। जिस समय शिमले का राजनैतिक विभाग प्रतिदिन अफगानिस्तान पर अधिकार जमाने की युक्तियां सोचा करता था, और ताशकंद की ओर से रूस उस दिन की प्रतीक्षा में बैठा था कि वह कब अफगानिस्तान विजय करता हुआ भारत की उत्तर

पश्चिम सीमा पर पहुंचेगा, एक दिन अमीर अब्दुर्रहमान ने दर्बार में कहा था, एक तालाब में एक हंस (अफगानिस्तान) है उसके एक ओर भेड़िया (रूस) और दूसरी ओर शेर (ब्रिटेन) खड़ा है। दोनों ही एक दूसरे पर गुर्रा रहे हैं। वे दोनों एक-दूसरे से केवल इसलिए द्वेष करते हैं कि दूसरा उनके शिकार में क्यों भाग लेना चाहता है। यदि बीच का पानी सूख जावे तो दोनों लड़ कर मर जावें। लेकिन ईश्वरेच्छा, पानी बहुत गहरा है और वैसा ही रहेगा"। अब्दुर्रहमान को अंग्रेज़ों का नियन्त्रण बहुत अखरता था, उसने इस जुये को उतार फैंकने का विचार भी किया, किन्तु देश की अव्यवस्थित दशा को देखकर उसे चुप रह जाना पड़ा और वह इस दिशा में कोई प्रयत्न करने का साहस न कर सका।

सन् १६०१ में अमीर अब्दुर्रहमान का पुत्र हबीबुल्ला काबुल की गद्दी पर बैठा। उसने अपने पिता के लक्ष्य, अर्थात् अफ़गा-निस्तान की पूर्ण स्वतंत्रता को प्राप्त करने का खूब प्रयत्न किया। उसने अंग्रेज़ों की वृत्ति लेने से इंकार कर दिया। उस समय तक रूस पामीर की उपत्यका तक बढ़ आया था, जब कि ब्रिटेन बोअर-युद्ध में फंसा हुआ था; रूस शीघ्रता-पूर्वक बढ़ता चला आरहा था और एशियाई प्रदेश में रेलें निकाल रहा था। दोनों साम्राज्यवादी देशों में युद्ध की सम्भावना बेहद बढ़ गई थी। अंग्रेज़ इस समय बहुत ही भयभीत थे, उन्हें यह डर था कि यदि अफ़गानिस्तान पर रूस का प्रभाव होगया और वहां

भी रेलें बनगईं तो रूस की सेनाएं बड़ी आसानी से भारत की सीमा पर पहुंच सकेंगीं। अतएव अंग्रेज़ों ने सन १६०४ में एक राजनैतिक मिशन काबुल भेजा। उसका उद्देश्य सफल हुआ। अमीर हबीबुल्ला ने अपने पिता द्वारा की हुई संधि को दुहराना स्वीकार किया, अमीर की वृत्ति डयोढ़ी करदी गई। यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने १६०५ में अमीर को "हिज़ मेजस्टी" की उपाधि दे दी, फिर भी अफगानिस्तान की पर-राष्ट्र नीति पर उसका नियन्त्रण पूर्ववत बना रहा। योरोपीय महायुद्ध के पूर्व, अमीर ने भारत-यात्रा की, और उससे प्रभावित होकर उन्होंने अपने देश में तार, टेलीफोन, तथा अन्य आधुनिक सुविधाएं तथा गमनागमन के साधन उपलब्ध कर दिये। इसके अतिरिक्त उन्होंने शिक्षा के विस्तार के लिए स्कूल स्थापित किये। उसी समय अफगानिस्तान में स्कूल तथा कारखाने स्थापित किये गये, और तुर्की अधिकारियों की देख-रेख में सेना का नवीन संगठन किया गया।

यह वह समय था जब मुस्लिम संसार में 'पान-इस्लाम' की प्रबल लहर वेग से बह चली थी। यह आन्दोलन अफगानिस्तान में खूब फैला और अधिकांश जनता इसे मुस्लिम राष्ट्रों की स्वतंत्रता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए आवश्यक समझने लगी। बात यह थी कि उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही इस्लाम धर्म को मानने वाले राष्ट्रों का दुर्दिन आरम्भ हो गया था। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि क्रमशः सारे मुस्लिम राष्ट्र गैर-मुस्लिमों के हाथों

में चले जावेंगे। अपने अस्तित्व को ही नष्ट होते देखकर मुस्लिम राष्ट्र भयभीत हो उठे।

योरोपीय राष्ट्र मुस्लिम राज्यों के प्रान्तों को हड़पते जा रहे थे। सन् १९१२ का बालकन युद्ध इसी भावना को लेकर लड़ा गया था। ईसाई राष्ट्र टर्की को योराप से खदेड़ कर बाहर कर देना चाहते थे। ऐसी विकट परिस्थिति में मुस्लिम राष्ट्रों को संगठित होने की आवश्यकता प्रतीत हुई। 'पान-इस्लाम' आन्दोलन के प्रवर्तक तथा प्रचारक जमालउद्दीन ने, जो अफगानी था, मुस्लिम राष्ट्रों में नव-चैतन्य भरने का प्रशंसनीय कार्य किया।

अफगानिस्तान भी 'पान-इस्लाम' आन्दोलन की लहर से नहीं बच सका। इसका फल यह हुआ कि जब टर्की और इटली का युद्ध हुआ, तथा उसके बाद जब बालकन युद्ध हुआ तब अफगानिस्तान ने क्रियात्मक रूप से अपनी सहानुभूति टर्की के प्रति प्रदर्शित की। सन् १९१४ में जब योरोपीय महायुद्ध आरम्भ हुआ, समस्त अफगानिस्तान मित्र-राष्ट्रों के विरुद्ध (अर्थात् तुर्कों के साथ) युद्ध-घोषणा करने के पक्ष में था। प्रजा ने बहुत चाहा कि अमीर अंग्रेज़ों के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दें, परन्तु दूरदर्शी हबीबुल्ला यह भली भांति समझता था कि उसके देश का हित इसी में है कि वह तटस्थ रहे, अतएव उसने जनमत की नितान्त अवहेलना करके अफगानिस्तान को युद्ध में पड़ने से बचाये रक्खा। सम्भवतः यही कारण था कि १९१९ में उसकी हत्या

कर दी गई, क्योंकि साधारण जनता का विश्वास था कि अमीर अंग्रेजों के मित्र हैं, और उनके कहे अनुसार ही कार्य करते हैं। अमीर हबीबुल्ला की हत्या के उपरान्त उनका छोटा पुत्र अमानुल्ला काबुल के राजसिंहासन पर बैठा।

अमीर अमानुल्ला ने सिंहासन पर बैठते ही, अप्रेल १६१६ में अफगानिस्तान के पूर्ण स्वतंत्र होने की घोषणा कर दी, और उसी महीने में वलीमुहम्मद खाँ की अध्यक्षता में राजनैतिक मिशन इस उद्देश्य से मास्को भेजा कि रूस और अफगानिस्तान में राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित हो जावे। इधर १६१६ में पंजाब प्रान्त में ब्रिटिश सरकार ने राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचलने के लिए घोर दमन किया। 'मार्शल-ला', जलियांवाला बाग़ के गोलीकांड तथा अन्य कार्यों से भारतवर्ष का राजनैतिक वातावरण अत्यन्त क्षुब्ध और अशान्त था। अमानुल्ला ने सोचा कि यह अवसर उपयुक्त है, अतएव उन्होंने जिहाद बोल दिया। अमानुल्ला का अनुमान था कि असन्तुष्ट भारतीय उनकी सहायता करेंगे; जिस समय अफगानिस्तान अंग्रेज़ी सेनाओं से लड़ेगा, उस समय भारतवर्ष में क्रान्ति हो जावेगी। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। अस्तु, अमीर अमानुल्ला से संधि-चर्चा छेड़ दी। अंग्रेज़ सरकार भी परिस्थिति-वश इस समय युद्ध ज़ारी रखना नहीं चाहती थी। ८ अगस्त १६१६ को रावलपिंडी की संधि हुई, जिसमें ब्रिटेन ने अफगानिस्तान की पूर्ण स्वतंत्रता स्वीकार करके उसको सन्तुष्ट कर दिया। भारतवर्ष के अत्यन्त क्षुब्ध राजनैतिक वातावरण का

उपयोग, चतुर अमीर अमानुल्ला ने अपने देश को स्वतंत्र बनाने में किया। यदि भारतवर्ष में उस समय राजनैतिक अशान्ति न होती तो अफगानिस्तान का स्वतंत्र होना कठिन था।

एक और भी कारण था, जिससे कि अंग्रेज़ों को अफगानिस्तान की पूर्ण स्वतंत्रता स्वीकार करनी पड़ी। वलीमुहम्मद ख़ाँ की अध्यक्षता में अफगान मिशन नवम्बर में मास्को पहुँचा। लेनिन ने मिशन का स्वागत किया, और अफगानिस्तान की पूर्ण स्वतंत्रता को स्वीकार कर लिया। रूसी राजदूत काबुल में रहने लगा, और ताशकंद में अफ़ग़ानी राजदूत भेज दिया गया। ब्रिटेन ने देखा कि रूस के सम्पर्क में आकर अफगानिस्तान कहीं उसके प्रभाव में न आ जावे, अतः उसने यही ठीक समझा कि वह स्वतंत्र कर दिया जावे।

२८ फ़र्वरी सन् १६२१ को रूस और अफगानिस्तान ने मास्को में एक संधि पर हस्ताक्षर किये, जिससे दोनों एक दूसरे के मित्र बन गये। इस संधि के अनुसार एक दूसरे की पूर्ण स्वतंत्रता को स्वीकार की गई। रूस को अफगानिस्तान में पांच, तथा अफगानिस्तान को रूस में सात, दूतावास स्थापित करने का अधिकार मिला। संधि में इस बात का भी उल्लेख था कि दोनों में से कोई भी राष्ट्र किसी तीसरे राष्ट्र से ऐसी संधि नहीं करेगा, जो दूसरे के हितों के विरुद्ध हो। संधि में दोनों राष्ट्रों ने यह भी घोषणा की, कि वे पूर्वीय राष्ट्रों के स्वतंत्रता-विषयक प्रयत्नों

के सम्बन्ध में एक मत हैं—अर्थात् प्रत्येक राष्ट्र को अपने भाग्य-निर्णय का स्वयं अधिकार होगा। संधि के अनुसार रूस ने अफगानिस्तान का वह सीमा-प्रदेश वापस देना स्वीकार कर लिया, जो उसने उन्नीसवीं शताब्दी में छीन लिया था। शर्त यह थी कि यदि उस प्रदेश की प्रजा अफगानिस्तान-सरकार की अधीनता में जाना स्वीकार करेगी, तभी वह लौटाया जावेगा। १ मार्च १६२१ को मास्को में ही अफग़ान मिशन ने टर्की राजदूत से एक संधि कर ली। इस संधि के अनुसार दो मुसलिम राष्ट्र, जो अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए प्रयत्न कर रहे थे, मित्र और एक दूसरे के सहायक बन गये। दोनों राष्ट्रों ने यह निश्चय किया कि जब कभी साम्राज्यवादी राष्ट्र उनमें से किसी पर आक्रमण करें तब वह एक दूसरे की सहायता करेंगे। इसके उपरान्त अफग़ान मिशन योरोप, और संयुक्त राज्य अमरीका होता हुआ स्वदेश लौट आया।

अमीर अमानुल्ला यह जानते थे कि जब तक अफगानिस्तान, अर्वाचीन राष्ट्रों की ही भांति, आधुनिक परिधान नहीं धारण कर लेता, और माध्यामिक युग को अन्तिम नमस्कार नहीं करता, तब तक उसकी स्वतंत्रता खतरे में रहेगी। अतएव उन्होंने सब प्रकार से अफगानिस्तान को आधुनिक राष्ट्र के रूप में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया। सन् १६२० में एक मिशन फारस भेजा गया, वहां उसका अच्छा स्वागत हुआ और उन दो पड़ौसी मुस्लिम राष्ट्रों में सद्भावना तथा मित्रता का सम्बन्ध स्थापित हो

गया। अक्तूबर १६२० में चीन, फ्रांस तथा इटली से सन्धियां की गईं और इन देशों के राजदूत काबुल में रहने लगे, तथा अफगानिस्तान के राजदूत उक्त देशों को भेजे गये।

अमानुल्ला ने रूसी, तुर्क, इटैलियन, तथा फ्रेंच कर्मचारियों, शिक्षकों और इञ्जीनियरों को नियुक्त किया। देश में राष्ट्रीयता की भावना को उत्पन्न करने के लिए अमीर ने समाचार-पत्रों को प्रोत्साहन दिया। उसने उच्च राज्य-कर्मचारियों को यह आज्ञा दे दी कि वे कम से कम दो पत्रों के ग्राहक बनें। सन् १६२४ में एक शासन-विधान बनाया गया, जिसके अनुसार स्टेट-कौंसिल तथा लैजिस्लेटिव एसैम्बली की स्थापना की गई और सब राजकीय विभाग मंत्रियों के अधीन कर दिये गये। अफगानिस्तान की पार्लियामेंट को 'जिर्गा' कहा जाता है। अमीर ने जिर्गा में जाने वाले सदस्यों के लिए बैंच पर बैठना और दाढ़ी मुंड़वा लेना आवश्यक कर दिया। यही नहीं, सदस्यों और राज्य-कर्मचारियों को योरोपीय ढंग की पोशाक पहिननी पड़ती थी। मंत्री-मंडल जिर्गा के प्रति उत्तरदायी था। कोई अन्य योग्य प्रधान मंत्री न मिलने के कारण अमानुल्ला स्वयं प्रधान मंत्री बने। उनके सामने कमाल पाशा का उदाहरण था, वे शीघ्र ही अफगानिस्तान को एक अर्वाचीन राष्ट्र में परिणत कर देना चाहते थे।

अमानुल्ला ने टर्की और जर्मनी के ढंग पर अपना सैन्य संगठन किया, बड़े शहरों सैनिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए कालेज खोल दिये, वायु-सेना भी संगठित की। रूस की जुनकर कम्पनी द्वारा

उन्होंने हवाई जहाज़ बनवाये, जिनके चलाने वाले रूसी, जर्मन, और अफगान थे। जर्मन लोगों ने हवाई शिक्षा देने का एक स्कूल भी काबुल में खोल दिया। योग्य अफगान नवयुवक सैनिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए रूस, टर्की, और जर्मनी भेजे गये। १६२८ में जिरगा ने सत्रह वर्ष की उम्रसे आरम्भ कर तीन वर्ष तक, सब के लिए सैनिक शिक्षा अनिवार्य करदी। अफगान सरकार ने फ्रांस सरकार से पचास हज़ार बन्दूकें खरीद लेनेका बन्दोबस्त किया; उसका मूल्य चुकाने के लिए प्रत्येक राज्य-कर्मचारी से एक महीने की तनख्वाह और प्रत्येक जीविका उपार्जन करने वाले व्यक्ति से पांच अफगान सिक्के लिये गये।

अमानुल्ला का शिक्षा की ओर विशेष ध्यान था। उन्होंने काबुल में विश्वविद्यालय स्थापित किया और शिल्प-शाला खोली। देश भर में पचास से अधिक विद्यालय स्थापित किये गये। प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य करदी गई। लड़कियों के स्कूल भी खोले गये। प्रारम्भिक शिक्षा निःशुल्क करदी गई, जिससे निर्धन प्रजा को शिक्षा भार-स्वरूप न प्रतीत हो। औद्योगिक शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया गया। कालेजों में जर्मन और फ्रेंच शिक्षक नियुक्त किये गये। राजवंश तथा उच्च राज्य-कर्मचारियों के लड़कों और लड़कियों को विदेशों में शिक्षा प्राप्त करने के लिये भेजा गया। देश की कर-नीति आधुनिक सिद्धान्तों के अनुसार बदल दी गई। हिन्दुओं और शियों को धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान की गई। अमीर स्वयं उनके धार्मिक समारोहों में एक दो बार

सम्मिलित हुए। परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि वहां धार्मिक सहिष्णुता का भाव घर कर गया था। १६२४ और १६२५ में अहमदिया लोगों को पत्थरों से इस कारण मारा गया था कि वे इस्लाम के विरुद्ध आचरण करते थे। यद्यपि न्याय-व्यवस्था इस्लाम के धार्मिक क़ानून अर्थात शरियत के अनुसार ही रही, किन्तु धीरे धीरे अमीर अमानुल्ला ने उसमें भी सुधार करना आरम्भ कर दिया।

अमानुल्ला तथा उनकी प्रिय राजरानी सुरैया ने बड़ी तेज़ी से अफगानिस्तान के राजनैतिक तथा आर्थिक ढांचे को बदलना आरम्भ कर दिया। इस कार्य को अमानुल्ला के योरोप जाने से विशेष बल मिला। वहां से लौटकर वह और भी दृढ़ता-पूर्वक सुधारों की ओर अग्रसर होने लगे। परन्तु जहां अतातुर्क कमाल टर्की को, और रिज़ाशाह पहलवी फ़ारस को, नवीन परिधान पहनाने में सफल हुए, वहां अमानुल्ला को सफलता नहीं मिली। किसी भी देश में क्रान्तिकारी परिवर्तन तभी हो सकते हैं, जब कि या तो जनता शिक्षित हो, और परिवर्तनों की आवश्यकता का अनुभव करने लगी हो; अथवा, परिवर्तन लाने वाले नेता का अपना कोई प्रभावशाली संगठित दल हो, जो अपने नेता के आदर्श और सिद्धान्तों में पूर्ण विश्वास रखता हो। अभाग्य-वश अफगानिस्तान में दोनों में से एक भी बात नहीं थी। उस समय भी वहां मुल्लाओं का बहुत प्रभाव था। राष्ट्रीयता की भावना साधारण जनता में उदय ही नहीं हुई थी;

देश जहालत और रूढ़िवाद में फँसा हुआ था। और, अमीर अमानुल्ला का कोई दल विशेष भी न था, जो उनके आदर्शों के लिए मर मिटने को तैयार होता। ऐसी परिस्थिति देश में क्रान्तिकारी परिवर्तनों के लिए अनुकूल नहीं थी।

फिर अंग्रेज भी अमानुल्ला को काबुल के राज-सिंहासन पर आसीन देखकर कुछ प्रसन्न नहीं थे। अफगानिस्तान की स्वतंत्रता प्राप्त कर लेने के उपरान्त भी अमानुल्ला ने ब्रिटिश सरकार से मैत्री-पूर्ण संबंध स्थापित नहीं किया। राजनैतिक दूरदर्शिता इसमें थी कि अफगानिस्तान अपनी दोनों पड़ौसी शक्तियों (रूस और ब्रिटेन) से अच्छा संबंध स्थापित करके फिर आन्तरिक सुधार के लिए कटिबद्ध होता। परन्तु अमानुल्ला ने ब्रिटेन से ऐसा नहीं किया। फल यह हुआ अंग्रेज भी अमानुल्ला के पतन के इच्छुक हो गये। उन्हें भय था कि अमानुल्ला की रूस से मैत्री का परिणाम यह हो सकता है कि भारतवर्ष में भी कम्यूनिस्ट प्रचार की सुविधा हो जावे। इन्हीं दिनों देखा गया कि एक व्यक्ति भेष बदल कर पश्चिमोत्तर-सीमा-प्रान्त पर रहा, और भेद प्रगट हो जाने पर वहां से भाग गया। प्रायः लेखकों का विश्वास है कि वह प्रसिद्ध गुप्तचर कर्नल टी. ई. लोरैंस था।

इसके अतिरिक्त, अमानुल्ला के सुधारों से मुल्ला असंतुष्ट थे। इन संकीर्ण धर्माचार्यों को सुधारों से हानि होने की सम्भावना थी। वे जानते थे कि यदि देश में जागृति हो गई तो उनके स्वार्थों

और प्रतिष्ठा को धक्का लगेगा । उन्होंने यह कहना आरम्भ किया कि बादशाह इस्लाम तथा मुस्लिम संस्कृति को मिटाना चाहता है । मस्जिदों में नमाज़ के समय तथा अन्य मौकों पर वे लोग अशिक्षित पठानों को भड़काने लगे । अमानुल्ला के योरोप चले जाने पर मुल्लाओं का कार्य ज़ोर से चलता रहा । देवबन्द के उलमाओं के रूप में, बहुत से दूत वहां काम कर रहे थे । योरोप से लौटने पर अमीर को विद्रोह की झलक दिखलाई दी । उन्होंने देवबन्द के उलमाओं को देश से निकाल दिया, जो उलमा देवबन्द से काबुल की ओर जाते थे, उन पर निगरानी रक्खी जाने लगी । अफगानिस्तान के मुल्लाओं का, सरकारी फरमान लेना आवश्यक कर दिया गया, किन्तु फिर भी मुल्ला छिपे-छिपे षड़यंत्र रचते रहे । धर्माचार्यों के अतिरिक्त, प्रतिक्रियावादी वर्ग भी सुधार-आन्दोलन के विरुद्ध था । फिर अमानुल्ला की जल्दबाज़ी, अदूर-दर्शिता, हठीले स्वभाव, और सुधारों को कठोरता के साथ देश पर लादने की नीति ने विरोधी शक्तियों को उनके पतन के जाल बिछाने का अच्छा अवसर प्रदान किया ।

दिसम्बर १९२८ में शिनवरी फिर्के ने, और कुछ समय पश्चात् मोहम्मद फिरके ने भी विद्रोह कर दिया । विवश होकर बादशाह ने ११ जनवरी को एक विज्ञप्ति प्रकाशित करके, योरोपीय पोशाक पहनने की आज्ञा वापस ले ली, लड़कियों के स्कूल बन्द कर दिये, विदेशों में भेजी हुई लड़कियों को वापस बुलाने तथा सैनिकों को पीरों का मुरीद बनने की आज्ञा देदी । क़ानून में शरियत

के अनुसार सुधार करने, स्त्रियों को परदे में रहने, तथा मजलिस इन्तज़ामियामें मुल्लाओं का प्रभुत्व स्वीकार करने की अनुमति प्रदान करदी। परन्तु विद्रोह शांत नहीं हुआ। बच्चा-सक्का के नेतृत्व में, विद्रोही गड़बड़ करने लगे। अमानुल्ला अफगानिस्तान में गृह-कलह उपस्थित करना नहीं चाहते थे, अतएव उन्होंने काबुल का सिंहासन छोड़ दिया। अमानुल्ला का पतन हुआ, प्रतिक्रियावादियों की विजय हुई। थोड़े समय के लिए अफगानिस्तान फिर अंधकार में डूब गया, और सुधार-आन्दोलन को भयंकर धक्का लगा।

डाकू बच्चा-सक्का अधिक दिनों काबुल के राजसिंहासन पर न रहसका। जनरल नादिरशाह फ्रांस से लौटे, और उन्होंने अफगानिस्तान के सिंहासन पर अधिकार कर लिया। बच्चा-सक्का से युद्ध करने में, और अफगानिस्तान पर अधिकार करने में नादिरशाह को ब्रिटिश सरकार से बहुत सहायता मिली थी। १,७५,००० पौंड तथा दस हज़ार राइफ़लों की जो सहायता अंग्रेज़ों ने दी थी, उससे ही नादिरशाह की विजय सम्भव हो सकी। अमीर नादिरशाह ने सिंहासन पर बैठने के उपरान्त अपनी स्थिति को दृढ़ करने, और अफगानिस्तान की शक्ति को बढ़ाने की ओर अधिक ध्यान दिया। उनकी नीति अंग्रेज़ों से मैत्री बनाये रखने की ओर झुकी रही। यद्यपि अमानुल्ला का सुधार-आन्दोलन समाप्त हो गया, किन्तु जिस वृक्ष का उन्होंने बीजारोपण किया था, वह बिलकुल नष्ट नहीं हुआ। कारण यह है कि

अफगानिस्तान पर, अपने पड़ौसी सोवियट रूस में रहने वाली मुस्लिम जातियों की, बोलशैविक क्रान्ति के उपरान्त होने वाली, कायापलट का बहुत प्रभाव पड़ा था।

यदि देखा जावे तो अफगानिस्तान में जो कुछ भी अर्वाचीनता के चिह्न दिखलाई देते हैं, और जो भी उन्नति हुई है, वह रूस की सहायता तथा सहानुभूति से ही हो सकी है। अफगानिस्तान ने सोवियट रूस से बहुत कुछ सीखा है। पड़ौस के प्रदेश तुर्किस्तान में, जहां अफग़ानों की ही भांति बहुत पिछड़ी जाति निवास करती थी, अफग़ानों के देखते-देखते उनकी कायापलट हो गई। मुसलमानों के इस पिछड़े प्रदेश में प्रजासत्तात्मक राज्य स्थापित हो गया है, जो स्वेच्छा से सोवियट यूनियन के अन्तर्गत रहते हैं। तुर्किस्तान की सब प्रकार से उन्नति की जा रही है, परन्तु योरोपीय सभ्यता उस पर बल-पूर्वक नहीं लादी जा रही है। इसका कारण यह है कि सोवियट रूस ने वहां के प्रदेशों की माध्यमिक युग की सभ्यता तथा उनके जातीय संगठन का मूल्य समझ लिया है। उसी के आधार पर शासन-विधान तैयार किया गया है। रूस ने उन प्रदेशों को स्वतंत्र कर दिया है, जो सभ्यता तथा जाति में रूस से भिन्न थे। इसका यह फल हुआ कि आज वे जातियां स्वेच्छा से सोवियट यूनियन में सम्मिलित हैं। जो लोग किसी दिन रूस के विरुद्ध विद्रोह करते, तथा उसके शत्रुओं का बल बढ़ाते थे, आज उसके सच्चे मित्र, और सहायक हैं। रूस ने एशिया में इस नीति को अपनाकर योरोप

के साम्राज्यवादी राष्ट्रों की शक्ति को बहुत बड़ा धक्का पहुंचाया है। वह अपनी मुसलिम प्रजा की सर्वांगीण उन्नति कर रहा है। तुर्किस्तान का शासन अधिकतर वहां के मुसलिम नागरिकों के द्वारा ही हो रहा है। वहां प्रारम्भिक शिक्षा का आन्दोलन तेज़ी से चल रहा है, प्रारम्भिक पाठशालाओं की शिक्षा पहले से बारह-गुनी अधिक हो गई है। श्रमजीवियों का एक कालेज स्थापित किया गया है, और ताशकंद में एक विश्व-विद्यालय खोला गया है। रूसी भाषा राजकीय भाषा के पद से हटती जा रही है; उस का स्थान देशी भाषा ले रही है। हां, अभी तक स्त्रियों की शिक्षा तथा उनकी उन्नति का अधिक कार्य नहीं होसका है। उद्योग धंधे, कृषि, तथा व्यापार की उन्नति वहां आश्चर्यजनक गति से होरही है।

अपने पड़ौसी प्रदेश को इतनी शीघ्रता से उन्नति के पथ पर दौड़ते देखकर, शिक्षित अफ़गानों में भी अपने देश को उन्नत करने की भावना जागृत हुई। भाग्य-वश उस समय काबुल के राजसिंहासन पर अमानुल्ला विराजमान थे। यद्यपि अमानुल्ला के पतन के उपरान्त सुधार-आन्दोलन थोड़े समय के लिए रुक गया, नादिरशाह के शासन-काल में, तथा उनकी हत्या के उप-रान्त उनके पुत्र ज़हीर शाहके शासन-काल में, धीरे-धीरे अफगा-निस्तान फिर सुधारों की ओर बढ़ रहा है; यद्यपि उसकी गति बहुत धीमी है।

१९३३ में नादिरशाह की हत्या हुई, और ज़हीरशाह सिंहासन

पर बैठे। युवक ज़हीरशाह ने अपने चाचा सरदार मुहम्मद हुसेन खां को प्रधान मंत्री बनाया। वास्तव में यदि देखा जावे तो प्रधान मंत्री ही अफ़गानिस्तान का कर्ता-धर्ता है। मुहम्मदखां अत्यन्त चतुर राजनीतिज्ञ है, वह अफगानिस्तान पर किसी भी सामाज्यवादी शक्ति का प्रभाव जमने नहीं देना चाहता। नादिरशाह ने अपने शासन-काल में अंग्रेज़ व्यवसायियों को कुछ सुविधाएं दी थीं, और खैबर रेलवे लाइन को काबुल तक ले जाने की अनुमति दी थी। किन्तु ज़हीरशाह के शासन-काल में अफगानिस्तान की नीति किसी भी साम्राज्यवादी देश को अधिक प्रोत्साहन देने की नहीं है।

अफगान सरकार ने एक अमरीकन कम्पनी को दक्षिण-पश्चिम प्रदेश में २,५०,००० वर्ग मील भूमि में तेल निकालने की सुविधा दी है। यह सुविधा ७५ वर्ष के लिए दी गई है। ईरान ने भी अमरीकन कंपनी को अपने पूर्वीय प्रदेश के तेल की खानों को खोदने की सुविधा दी है। इससे यह प्रतीत होता है कि काबुल तथा तेहरान की सरकारें अंग्रेज़ों को सुविधाएं नहीं देना चाहतीं। अफगानिस्तान में हरी-रुद घाटी में तेल बहुतायत से पाया जाता है। उत्तर में तांबा, खुर्द काबुल के पास और घोरबांद घाटी में कोयला, पंजेश्वर घाटी में चांदी, और कथारसी और परमाल की खानों में लोहा भरा पड़ा है। परन्तु अफगानिस्तान के पास पूंजी नहीं है अतएव उसे विदेशी पूंजी को आने देना होगा। तथापि अफगानिस्तान-सरकार इस

बात में बहुत सतर्क है कि उस पर किसी भी साम्राज्यवादी राष्ट्र का प्रभाव न होने पावे। यही कारण है कि उसने तेल निकालने की सुविधा अंग्रेज़ी कम्पनी को न देकर अमरीकन कम्पनी को दी।

क्रमशः अफगानिस्तान में आधुनिक सुविधाएं उपलब्ध की की जा रही हैं। काबुल और भारतवर्ष का तार तथा टेलीफोन से सम्बन्ध होगया है। अफगान सरकार बेतार के तार वाले (Wireless) स्टेशन बनवा रही है, इससे अफगानिस्तान का समस्त संसार से सम्बन्ध स्थापित हो जावेगा।

एक बात और है, जो अफगानिस्तान के भविष्य पर गहरा असर डालने वाली है। सन् १६३७ में टर्की, ईरान, ईराक़ तथा अफ़गानिस्तान में एक अनाक्रमण (Non-agression) संधि हुई है। उधर सौदी अरब, ईराक़ तथा यमन में एक पृथक् समझौता इसी आशय का हो चुका है। 'पान-अरब' आन्दोलन चल ही रहा है, मिस्र तथा सीरिया को आंशिक स्वाधीनता मिल जाने के कारण इस आन्दोलन को और भी बल मिलेगा। इस सबका फल यह होगा कि निकट भविष्य में एशिया के मुस्लिम राष्ट्रों का अत्यन्त सुदृढ़ संगठन खड़ा हो जावेगा। 'पान-अरब' आन्दोलन का उद्देश्य पूरा होने वाला है। ऐसी दशा में जब अफगानिस्तान अधिक उन्नत मुस्लिम राष्ट्रों के सम्पर्क में आजावेगा, तथा योरोपीय साम्राज्यवाद के चंगुल से बचने के लिए उसे उन राष्ट्रों

के सहयोग की आवश्यकता होगी, तब अफगानिस्तान का ढांचा और भी तेजी से बदल जावेगा। भविष्य में अफगानों में राष्ट्रीय भावना का अधिक विकास होगा, और पूर्वीय राष्ट्रों से राज-नैतिक सहयोग पाकर वे अपनी शक्ति बढ़ा सकेंगे इसमें कोई संदेह नहीं। शुभम्।

—०-✱-०—